गंगा-पुस्तकमाला का तिरसठवाँ पुष्प

प्राचीन पंडित और कवि



महावीरप्रसाद द्विवेदी



प्राचीन पंडित और कवि

संपादक

श्रीदुलारेलाल भार्गव

चुनी हुई पुस्तकें

गंगा-पुस्तकमाला का तिरसठवाँ पुष्प

प्राचीन पंडित और कवि

लेखक
महावीरप्रसाद द्विवेदी

प्रकाशक
गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
२९-३०, अमीनाबाद पार्क
लखनऊ

द्वितीयावृत्ति

रेशमी जिल्द १।=)] संवत् १९८३ वि० [सादी ॥=)

अतएव पद्मावती नगरी यहीं रही होगी, इसमें संदेह नहीं। वहाँ पुरानी इमारतों के कुछ चिह्न और धुस्स अब तक विद्यमान हैं। वे सब ईसा की पहली शताब्दी से आठवीं शताब्दी तक के हैं। प्राचीन नाग-वंश के राजाओं के सिक्के तो आज तक सैकड़ों मिल चुके हैं और अब तक मिलते जाते हैं। ईसा की पहली या दूसरी शताब्दी का एक शिला-लेख भी संस्कृत में मिला है। लिपि उसकी ब्राह्मी है। ग्वालियर-राज्य के पुरातत्त्व-विभाग के अध्यक्ष, मिस्टर एम्० बी० गर्दे, ने इस लेख का संपादन किया है। लेख में मणिभद्र-नामक देवता की मूर्ति की स्थापना का उल्लेख है। यह मूर्ति भी टूटी-फूटी अवस्था में मिली है। लेख राजा शिवनंदी के समय में खोदा गया था। पर इस राजा का कुछ भी ऐतिहासिक हाल अब तक नहीं मालूम हुआ। पवाया के निवासी परंपरा से सुनते आये हैं कि वहाँ पहले एक प्रसिद्ध राजधानी थी और अनेक प्रतापी नरेश वहाँ हो गये हैं। यहाँ तक कि वे लोग संकल्प में "पद्मावती महा-सगमक्षेत्रे" का अब तक उल्लेख भी करते हैं। इससे सिद्ध है कि मालतीमाधव में भवभूति की उल्लिखित पद्मावती नगरी वहीं पर थी जहाँ पर अब पवाया-नामक छोटा-सा गाँव है। यदि आठवीं शताब्दी में ग्वालियर के आसपास का प्रांत विदर्भ-देश कहाता रहा हो तो, कुछ लोगों के अनु-मान के अनुसार, पद्मावती ही भवभूति की जन्मभूमि

पद्मपुर हो सकता है। अन्यथा बरार में वह कहीं और ही जगह रहा होगा।

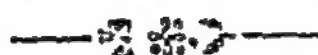
इस छोटी-सी पुस्तक में ८ प्राचीन विद्वानों के विषय में लिखे गये लेखों का संग्रह है। सुखदेव मिश्र बहुत पुराने नहीं, पर कल की भी बात आज पुरानी हो जाती है। इस दृष्टि से वे भी नये नहीं, क्योंकि उनको भी हुए इस समय कोई दो सौ वर्ष हो चुके। इसके सिवा उनके चरित में विलक्षणतापूर्ण कुछ अलौकिक बातें भी हैं, जिनसे विशेष मनोरंजन हो सकता है। इस संग्रह के लेखों में कवियों के समय के क्रम का विचार नहीं किया गया। जो लेख पहले का है उसे पहले, जो उसके बाद का है वह उसके बाद रक्खा गया है। अतएव यह क्रम लेखों के समय के अनुसार है, कवियों और पंडितों के समय के अनुसार नहीं।

यदि यह पुस्तक हिंदी के प्रेमियों को पसंद आई तो हम भिन्न-भिन्न विषयों के अपने अन्यान्य लेख भी पुस्तकरूप में प्रकाशित करेंगे।

कमरछल प्रेस,
जुही, कानपुर—जनवरी १९१८ } महावीरप्रसाद द्विवेदी

सूची

प्राचीन पंडित और कवि



भवभूति

प्राचीन कवियों, पंडितों और नाटककारों के विषय में दो एक को छोड़कर हिंदी के अन्य अनुरागी सज्जन प्रायः कभी कुछ लिखते ही नहीं। हिंदी का साहित्य इस प्रकार के निबंधों से शून्य-सा हो रहा है। जैसे और-और बातों में बँगला और मराठी भाषा का साहित्य हिंदी के साहित्य से बढ़ा हुआ है, वैसे ही यह इस विषय में भी है। महामहोपाध्याय सतीशचन्द्र विद्याभूषण, पंडित विष्णु कृष्ण शास्त्री चिपलूणकर और पंडित माधवराव वेंकटेश लेले इत्यादि विद्वानों ने, अपनी-अपनी देश-भाषा में, भवभूति के विषय में, बहुत कुछ लिखा है। प्रोफ़ेसर विलसन, सर मानियर विलियम्स, मोक्षमूलर, भांडारकर और दत्त इत्यादि ने भी भवभूति और उसके नाटकों की प्रशंसा करने में अपनी लेखनी का सदुपयोग किया है। परंतु, हिंदी में, जहाँ तक हम जानते हैं, भवभूति के विषय में किसी ने कुछ नहीं लिखा।

विष्णु शास्त्री ने कालिदास, भवभूति, बाण, सुबंधु और दंडी, इन पाँच प्राचीन कवियों पर, मराठी में, पाँच निबंध

लिखकर इन पाँचों के समाहार का नाम "संस्कृत कविपंचक" रक्खा है। शास्त्री महाशय ने भवभूति को छोड़कर शेष चार कवियों के समय का निरूपण भी यथाशक्य किया है और उनके विषय में, जहाँ तक संभव था, गवेषणा भी की है। परंतु भवभूति के समय के विषय में उन्होंने बहुत ही कम लिखा है। उनके कथन का आशय यह है—केवल मृच्छकटिक, प्रबोधचंद्रोदय, नागानद इत्यादि नाटकों में और दशकुमारचरित इत्यादि ग्रंथों में उस समय के जनसमूह की स्थिति का कुछ परिचय मिलता है। इसलिये भवभूति को कालिदास का समसामयिक मानने की अपेक्षा जिस समय ये ग्रंथ निर्मित हुए है उस समय के आसपास उसका अस्तित्व स्वीकार करना विशेष युक्तिसगत है।

विष्णु शास्त्री ने जिनका नाम दिया है वे प्राय सातवीं शताब्दी के ग्रंथ है। जैसे इन ग्रंथों में दीर्घ समासों की प्रचुरता है, वैसे ही भवभूति के नाटकों में भी है। जैसे इनमें बौद्ध-धर्मावलंबियों के चरित का कहीं-कहीं चित्र खींचा गया है, वैसे ही भवभूति के मालतीमाधव में भी खींचा गया है। इसीलिये विष्णु शास्त्री ने शूद्रक, कृष्ण मिश्र, बाण और दंडी के समय के सन्निकट भवभूति का होना अनुमान किया है। इतना ही लिखकर वे चुप हो गए है, भवभूति के समय का विशेष निरूपण उन्होंने नहीं किया।

राजतरंगिणी के चतुर्थ तरंग में लिखा है—

कविर्वाक्पतिराजश्रीभवभूत्यादिसेवित.
जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम्

(श्लोक १४४)

अर्थात्, वाक्पतिराज और भवभूति आदि कवियों से सेवा किए गए यशोवर्मा ने (ललितादित्य से) परास्त होकर उस विजयी का गुण गाया। यशोवर्मा नाम का राजा सन ७६३ से ७२६ ईसवी तक कन्नौज के राज्यासन पर आसीन था। इस यशोवर्मा को काश्मीर के राजा ललितादित्य ने परास्त किया, और भवभूति को अपने साथ वह काश्मीर ले गया। इससे यह सिद्ध है कि भवभूति, अष्टम शताब्दी के आरंभ में, कान्यकुब्जाधिप यशोवर्मा की सभा में, उसका आश्रित होकर, विद्यमान था। अतएव "यह कहना समुचित नहीं जान पड़ता कि भवभूति को राजाश्रय था, यदि उसे राजाश्रय होता तो उसके तीनों नाटकों का प्रयोग कालप्रियनाथ की यात्रा ही के समय क्यों होता?", विष्णु शास्त्री की यह उक्ति बिलकुल निराधार है। भवभूति को राजाश्रय अवश्य था। कालप्रियनाथ की यात्रा ही के समय उसके नाटकों का क्यों प्रयोग हुआ, इसका कोई कारण होगा। भवभूति ने यशोवर्मा की सभा में स्थान पाने के पहले ही शायद अपने नाटक किये हों, अथवा यशोवर्मा के पराजय के अनंतर काश्मीर जाकर और वहाँ न राजाश्रय

हीन होकर, स्वदेश को लौटने पर, शायद उसने उन्हें बनाया हो, अथवा राजधानी की अपेक्षा यात्राओं में अधिक जन-समूह एकत्र होने के कारण उसी अवसर पर शायद उसने अपने नाटकों का प्रयोग किया जाना प्रशस्त समझा हो।

कुछ वर्ष हुए, डॉक्टर बूलर को एक "गौडवहो" (गौड़वध)-नामक प्राकृत काव्य मिला। इस काव्य को श्रीयुत पांडुरंग ने बंबई में छपाकर प्रकाशित किया है। इसके कर्ता वही वाक्पति-राज हैं, जो यशोवर्मा की सभा में विद्यमान थे। उन्होंने "गौड़-वध" में यशोवर्मा का विस्तृत वृत्तांत लिखा है और तद्द्वारा गौडदेश के राजा का पराजय वर्णन किया है। इस काव्य में वाक्पतिराज ने अपनी कविता के संबंध में लिखा है—

प्राकृत

भवभूइजलहिनिग्गयकव्वामयरसकणा इव स्फुरन्ति
जस्स विसेसा अज्जवि वियडेसु कहापबन्धेसु

संस्कृत

भवभूतिजलधिनिर्गतकाव्यामृतरसकणा इव स्फुरन्ति
यस्य विशेषा अद्यापि विकटेषु कथाप्रबन्धेषु

अर्थात्, भवभूतिरूपी जलनिधि से निकले हुए काव्यरूपी अमृत के कणों के समान जिसके निबंधों में अनेक विशेष-विशेष गुण अद्यापि चमक रहे हैं। इससे भी वाक्पतिराज के साथ भवभूति का, यशोवर्मा के यहाँ अष्टम शताब्दी के प्रारंभ में, होना सूचित होता है।

कई वर्ष हुए, हमारे मित्र पंडित माधवराव, वंकटेश लेले को, धार में, एक प्राचीन हस्त लिखित मालतीमाधव की पुस्तक मिली। उसमें "भट्टकुमारिलशिष्यभट्टभवभूति" लिखा है। "गौडवध" की भूमिका में भी लिखा है कि इंदौर में मालतीमाधव की एक पुस्तक मिली है, जिसमें "इति—कुमारिल शिष्यकृते" लिखा है। कुमारिल भट्ट सप्तम शताब्दी के अंत में हुए हैं। अतएव भवभूति का अष्टम शताब्दी के आदि में होना सब प्रकार सुसंगत है।

शंकरदिग्विजय में लिखा है कि विद्धशालभंजिका और बालरामायण आदि के कर्ता राजशेखर के यहाँ शंकराचार्य गए थे, और उनके बनाए नाटक आचार्य ने देखे थे। इससे राजशेखर और शंकर की समकालीनता प्रकट होती है। राजशेखर अपने बालरामायण में लिखते हैं—

बभूव वल्मीकभुवः कविः पुरा
ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम्
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया
स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः।

अर्थात्, पहले वाल्मीकि कवि हुए। फिर भर्तृहरि ने जन्म लिया, अनन्तर जो भवभूति नाम से प्रसिद्ध था, वह अब राजशेखर के रूप में वर्तमान है। शंकराचार्य अष्टम शताब्दी के अंत में हुए हैं। अतएव राजशेखर का अस्तित्व भी उसी समय सिद्ध है। जब यह सिद्ध है तब ऊपर दिए गए श्लोक

के अनुसार भवभूति का समय राजशेखर से कुछ ही पहले, अर्थात् अष्टम शताब्दी के आरंभ में, होना भी सिद्ध है।

सप्तम शताब्दी के मध्य में होनेवाले बाण कवि ने अपने हर्षचरित में जिन कवियों के नाम दिए हैं, उनमें भवभूति का नाम न दिया जाना भी बाण के अनंतर भवभूति का होना सिद्ध करता है।

भवभूति ने महावीरचरित, मालतीमाधव और उत्तररामचरित—ये* तीन नाटक लिखे हैं। इनमें से अंतिम में अल्प और पहले के दोनों नाटकों में किंचित् विशेष रूप से उसने अपने जन्मस्थान आदि का वृत्तांत लिखा है। महावीरचरित में अपने विषय में जो कुछ भवभूति ने लिखा है, वह यह है—

"अस्ति दक्षिणापथे पद्मपुरं नाम नगरम्। तत्र केचित्तैत्तिरीयिणः काश्यपाश्चरणगुरवः पङ्क्तिपावनाः पञ्चाग्नयो धृतव्रताः सोमपीथिन उदुम्बरा ब्रह्मवादिनः प्रतिवसन्ति। तदामुष्यायणस्य तत्र भवतो वाजपेययाजिनो महाकवेः पञ्चमः सुगृहीतनाम्नो भट्टगोपालस्य पौत्रः पवित्रकीर्तेर्नीलकंठस्यात्मसम्भवः श्रीकंठपदलांछनो भवभूतिर्नाम जातूकर्णीपुत्रः।

---

*डॉक्टर भांडारकर लिखते हैं कि शार्ङ्गधर-पद्धति में—

निरवद्यानि पद्यानि यदि नाट्यस्य का क्षति
भिक्षुकक्षाविनिक्षिप्तः किमिक्षुर्नीरसो भवेत्

यह श्लोक भवभूति के नाम से निर्दिष्ट है, जिससे सूचित होता है कि इस कवि ने इन तीन नाटकों के अतिरिक्त और भी कोई ग्रन्थ लिखा है, क्योंकि यह श्लोक इन तीनों पुस्तकों में नहीं पाया जाता।

श्रेष्ठः परमहंसानां महर्षीणामिवाङ्गिराः
यथार्थनामा भगवान् यस्य ज्ञाननिधिर्गुरुः

अर्थात्, दक्षिण में पद्मपुर नाम नगर है, जहाँ यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा का अध्ययन करनेवाले, व्रतधारी, सोमयज्ञकारी, पंक्तिपावन, पंचाग्निक, ब्रह्मवादी, काश्यपगोत्रीय उदुंबर ब्राह्मण रहते हैं। उनके यहाँ वाजपेय-यज्ञ करनेवाले, पुण्यशील, भट्ट गोपाल-नामक महाकवि का प्रादुर्भाव हुआ। भट्ट गोपाल के पौत्र, और पवित्रकीर्ति पिता नीलकंठ तथा माता जातूकर्णी के पुत्र, श्रीकंठ-उपाधि भूषित भवभूति का यहाँ जन्म हुआ। परमहंसों में श्रेष्ठ और महर्षियों में अंगिरा के समान जिस (भवभूति) के गुरु भगवान् ज्ञाननिधि* नाम यथार्थ में ज्ञाननिधि ही हैं।

इसी का सारांश विष्णु शास्त्री ने, अपने भवभूति-नामक निबंध में, इस प्रकार लिखा है—

"दक्षिण-देश के अंतर्गत पद्मपुर-नगर में उदुंबर नामक तैत्तिरीय ब्राह्मण रहते थे। उन्हीं के वंश में गोपाल भट्ट का जन्म हुआ। गोपाल भट्ट के नीलकंठ-नामक पुत्र हुआ और नीलकंठ के भवभूति नामक। भवभूति की माता का नाम जातूकर्णी था। पीछे से यह कवि भट्ट-श्रीकंठ नाम से भी पुकारा जाने लगा।"

परन्तु इस विषय में उन्होंने और अधिक चर्चा नहीं की, इतना ही कहकर चुप हो गए हैं।

*कुमारिल भट्ट ही का नाम ज्ञाननिधि तो नहीं ?

महावीरचरित से जो पंक्तियाँ हमने उद्धृत की हैं वही पंक्तियाँ, कुछ परिवर्तित रूप में, मालतीमाधव में भी हैं। वहाँ उनका आरंभ इस प्रकार हुआ है—"अस्ति दक्षिणापथे विदर्भेषु पद्मनगर नाम नगरम्"—जिससे सिद्ध होता है कि दक्षिणापथ के विदर्भ-देश में पद्मपुर अथवा पद्मनगर था। विदर्भ का आधुनिक नाम बरार है, परंतु बरार-प्रांत में पद्मपुर का कहीं पता नहीं। यह नगर इस समय अस्तित्व-हीन हो गया जान पड़ता है। मालतीमाधव के टीकाकार जगद्धर ने पद्मपुर और पद्मावती में अभेद बतलाया है, यह ठीक नहीं। पद्मावती, मालतीमाधव में वर्णन किए गए मालती और माधव के विवाहादि का घटना-स्थल है। डॉक्टर भांडारकर का मत है कि भवभूति का जन्मस्थान बरार में कहीं चाँदा के पास रहा होगा। वहाँ कृष्ण-यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखावाले अनेक महाराष्ट्र ब्राह्मण अब तक रहते हैं। उनकी देशस्थ संज्ञा है और उनका सूत्र आपस्तंब है। चाँदा के दक्षिण और दक्षिण पूर्व उसी वेद और उसी सूत्रवाले अनेक तैलंग ब्राह्मण भी रहते हैं। भवभूति ने अपने नाटकों में गोदावरी का जो वर्णन किया है उससे जान पड़ता है कि वह उस नदी से विशेष परिचित था। पद्मपुर शायद गोदावरी के तट पर ही अथवा कहीं उसके पास ही रहा होगा।

मालतीमाधव की घटनाएँ पद्मावती-नगरी में हुई हैं। कवि ने इस नगरी के चिह्नों का कुछ-कुछ पता दिया है।

चतुर्थ अंक के अंत में माधव से उसका सखा मकरंद कहता है—"तदुत्तिष्ठ पारासिन्धुसम्भेदमवगाह्य नगरीमेव प्रविशाव —" जिससे विदित होता है कि पारा और सिंधु नाम की दो नदियों के संगम पर पद्मावती नगरी बसी थी। इस बात को कवि ने नवम अंक के आरंभ में पुनरपि पुष्ट किया है। वहाँ उसने लिखा है—

पद्मावतीविमलवारिविशालसिन्धु-
पारासरित्परिकरच्छलतो बिभर्ति
उत्तुङ्गसौधसुरमन्दिरगोपुराट्ट-
संघट्टपाटितविमुक्तमिवान्तरिक्षम्
सैषा विभाति लवणा ललितोर्मिपंक्ति-
र्नवागमे जनपदप्रमदाय यस्याः
गोगर्भिणीप्रियनवोपलमालभारि-
सेव्योपकण्ठविपिनावलयो विभान्ति

यहाँ एक लवणा नदी का भी नाम आया है, जिससे सूचित होता है कि पद्मावती के पास ही लवणा भी बहती थी। इसी अंक में, कुछ दूर आगे, लिखा है—

"अयमसौ मधुमतीसिन्धुसंभेदपावनो भगवान् भवानी पतिरपौरुषेयप्रतिष्ठः सुवर्णबिन्दुरित्याख्यायते।"

इससे यह भी जाना जाता है कि यहाँ मधुमती नाम की एक नदी भी और इसके तथा सिंधु के संगम पर सुवर्णबिन्दु

नामक शंकर का मंदिर था। जनरल कनिंहम और पंडित वामन-शिवराम आपटे का मत है कि ग्वालियर-राज्य के अंतर्गत मालवा-प्रांत का नरवर-नगर ही प्राचीन पद्मावती है। नरवर सिंध (प्राचीन सिंधु)-नदी पर बसा है, और उसके पास ही पार्वती (प्राचीन पारा), लोन (प्राचीन लवणा) और मधुवर (प्राचीन मधुमती)-नदियाँ बहती हैं। यह पहचान जँचती तो ठीक है, परंतु पारा और सिंधु के संगम से नरवर कोई २५ मील है। इसी से डॉक्टर भाँडारकर कहते हैं कि नरवर से हटकर, कहीं दूसरे स्थान पर, पद्मावती रही होगी। विक्रमादित्य के समय से ही और प्रांतों की अपेक्षा मालवा-प्रांत ने विद्या-वृद्धि में विशेष ख्याति प्राप्त की थी। इसी से राजमंत्रियों तक के लड़के विदर्भ देश से पद्मावती में आन्वीक्षिकी-विद्या (न्याय शास्त्र) पढ़ने आते थे। संभव है, विदर्भ से कान्यकुब्ज जाते समय, अथवा काश्मीर से लौटते समय, भवभूति पद्मावती ही के मार्ग से गया हो, और उस नगर की तथा उसके निकट बहनेवाली नदियों की शोभा प्रत्यक्ष देखकर मालतीमाधव में उनका वर्णन उसने किया हो। पद्मावती में विद्या की विशेष चर्चा थी, अतएव भवभूति का वहाँ जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं।

विष्णु शास्त्री चिपलूणकर ने अपने निबंध में यह बात सिद्ध की है कि जैसे एक ही अर्थ के व्यंजक पृथक् पृथक् पद्य

कालिदास ने अपने पृथक्-पृथक् ग्रंथों में लिखे हैं वैसे भवभूति ने नहीं लिखे। अर्थात् भवभूति ने एक ही भाव का पिष्टपेषण करके उसे अनेक स्थलों में पद-बद्ध नहीं किया। यह हम भी मानते हैं। परंतु शास्त्रीजी के इस कहने से हम सहमत नहीं कि "विचारों के विषय में, हम, यहाँ पर, एक बात और कहना चाहते हैं। वह यह कि वे स्वयं कवि थे हैं, और काव्यों का किंचिन्मात्र भी आधार उनको नहीं—" शास्त्रीजी का आशय शायद यह है कि भवभूति के नाटकों में उनके पूर्ववर्ती कवियों की छाया तक नहीं पाई जाती। स्वयं शास्त्रीजी को एक ऐसा उदाहरण मिला है, जिसमें भवभूति-कृत मालतीमाधव के—

'पादे पादे लिखति [illegible] बाष्पपूरः"

इस श्लोक का भाव और कालिदास-कृत मेघदूत के "त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलायाम्*" इस श्लोक का भाव एक ही है। परंतु यहाँ पर शास्त्रीजी ने भवभूतिरूपी शिष्य को कालिदासरूपी गुरु से बढ़ गया बतलाकर अपने कथन को दृढ़ किया है और कहा है कि इस अर्थगौरव के आगे मन में बाधा नहीं आ सकती। हम यह नहीं कहते कि भवभूति ने कालिदास अथवा अपने और किसी पूर्ववर्ती कवि के विचारों की चोरी की है, परंतु, हाँ,

* रघुवंश और विक्रमोर्वशी में भी कालिदास ने एक [illegible] [illegible] की है।

कालिदास, शूद्रक और क्षेमेंद्र, ये तीनों कवि भवभूति से पहले हुए हैं। इनकी उक्तियों की छाया भवभूति के पद्यों में, अनेक स्थलों पर, पाई जाती है। यह चाहे इन कवियों के काव्यों के पाठ से भवभूति के हृदय में उत्पन्न हुए संस्कार-विशेष का फल हो, चाहे यों ही घुणाक्षर-न्याय से पूर्व कवियों की उक्तियों का भाव उसकी उक्तियों में आ गया हो। कुछ ही क्यों न हो, कहीं-कहीं साम्य अवश्य है।

अनेक विद्वानों का मत है कि भवभूति ने पहले महावीर चरित, फिर मालतीमाधव और फिर उत्तररामचरित लिखा है। इन ग्रंथों की लेख प्रणाली, इनके अर्थ-गौरव और इनके रसाल भावों का विचार करने से यह सिद्धांत युक्तिसंगत जान पड़ता है। महावीरचरित में वीर, मालतीमाधव में शृंगार और उत्तररामचरित में करुण-रस की प्रधानता है। इन नाटकों में क्या गुण है, और क्यों भवभूति की इतनी प्रशंसा होती है, इन सब बातों का विचार विष्णु शास्त्री ने बड़ी ही योग्यता से अपने निबंध में किया है। अनेक उत्तमोत्तम पद्य उद्धृत करके उन्होंने उनकी युक्ति-पूर्ण समीक्षा की है। भवभूति के नाटकों के कथानक की भी शास्त्रीजी ने प्रशंसा की है। परंतु मालतीमाधव के कथानक के संबंध में, डॉक्टर भांडारकर की सम्मति उनकी सम्मति से नहीं मिलती। डॉक्टर साहब का कथन है कि इस नाटक में जो श्मशान-वर्णन है, वह असंबद्ध सा है मूल कथानक में

यह जोड़-सा दिया गया है। वे यह भी कहते हैं कि कपाल-कुंडला के द्वारा मालती का हरण किया जाना कवि ने केवल इसलिये दिखाया है, जिससे वियोगियों की दशा का वर्णन करने के लिये उसे अवसर मिले। डॉक्टर भांडारकर ने और भी दो-एक बातें, शास्त्रीजी के मत के प्रतिकूल, कही हैं। डॉक्टर साहब के बतलाए हुए दोष ऐसे हैं जो सामान्य जनों के ध्यान में नहीं आ सकते। नाट्य शास्त्र के आचार्यों की दृष्टि में ऊपर कही बातें चाहे भले ही सदोष हों, परंतु हम, इस विषय में, यह अवश्य कहेंगे कि भवभूति का किया हुआ श्मशान वर्णन अद्वितीय है। बीभत्स रस का ऐसा अच्छा उदाहरण संस्कृत के और नाटकों अथवा काव्यों में हमने नहीं देखा। भवभूति का विप्रलंभ-वर्णन भी एक अद्भुत वस्तु है। अतएव भवभूति के ये दोष यदि दोष कहे जा सकते हैं तो क्षम्य हैं। यदि वह इन उपर्युक्त बातों को मालतीमाधव से निकाल डालता, तो हम बीभत्स और वियोग शृंगार के अलौकिक रस से परिप्लुत उसकी अनूठी कविता से भी वंचित रहते। पंडित माधवराव वेंकटेश लेले ने भवभूति के सब नाटकों की समालोचना मराठी में की है और अनेक दोष दिखलाए हैं, परंतु इस छोटे से निबंध में हम उन सब दोषों का विचार नहीं कर सकते।

अपने नाटकों के बनाने का कारण भवभूति ने कहीं भी स्पष्ट नहीं लिखा। परंतु उसके नाटकत्रय में वर्णित

वस्तुजात और पात्रों के क्रिया-कलाप आदि से उस बात का पता लगता है। जिस समय भवभूति का प्रादुर्भाव हुआ उस समय, इस देश में, बौद्ध धर्म का ह्रास हो रहा था। षष्ठ शताब्दी में उद्योतकर, सप्तम शताब्दी में कुमारिल भट्ट और अष्टम शताब्दी में शङ्कराचार्य ने बौद्ध धर्म को उच्छिन्न करने में कोई बात उठा नहीं रक्खी। वैदिक धर्म के प्रतिपादन और बौद्ध धर्म का संहार करने के लिये इन महात्माओं ने जो कुछ किया है वही भवभूति ने भी किया है। इन्होंने स्पष्ट रीति से बौद्ध धर्म का खंडन किया है, परंतु भवभूति ने स्पष्ट कुछ नहीं कहा। अनेक स्थलों पर अपने नाटकों में वैदिक धर्म की श्रेष्ठता और बौद्ध धर्म की हीनता के उदाहरण दिखलाते हुए, दोनों प्रकार के धर्मावलंबियों की दिनचर्या का चित्र खींचकर, भवभूति ने सब मर्म अभिनय देखनेवालों के सम्मुख उपस्थित कर दिया है, जिसका यही तात्पर्य है कि वैदिक धर्म ग्राह्य और बौद्ध धर्म त्याज्य है।

मालतीमाधव की प्रसिद्ध पात्री कामंदकी बौद्ध संन्यासिनी थी। वह अपने आश्रम धर्म के विपरीत मालती और माधव को विवाह-सूत्र से बाँधने के बखेड़े में पड़ी थी। उसकी शिष्य सौदामिनी बौद्ध सम्प्रदाय का त्याग करके अघोरघंट और कपालकुंडला के तांत्रिक जाल में फँसी थी। ये तांत्रिक ऐसे दुराचारी और नृशंस थे कि अपनी

इष्टदेवी चामुंडा के सम्मुख, समय-समय पर, नर-बलि दिया करते थे। मालतीमाधव का यह चित्र बौद्ध धर्म के अधःपतन का दर्शक है। वैदिक धर्म के अनुयायियों की श्रेष्ठता का चित्र वीरचरित और उत्तरचरित में है। इन दोनों नाटकों में रामचन्द्र, लक्ष्मण, लव, कुश, सौधातकि, जनक, वशिष्ठ, विश्वामित्र और जानकी आदि के चित्रों द्वारा भवभूति ने ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, राजा, प्रजा और तपस्विवर्ग के आचारों और व्यवहारों का ऐसा अच्छा आदर्श दिखलाया है, जिसको देखने से वैदिक धर्म का स्वरूप नेत्रों के सम्मुख उपस्थित हो जाता है और उस पर आंतरिक श्रद्धा उत्पन्न हुए बिना नहीं रहती। दोनों धर्मों के अनुयायियों के आचरणानुरूप दो प्रकार के उच्च और नीच चित्र चित्रित करके कवि ने उनकी उच्चता और नीचता का भेद बड़े ही कौशल से दिखाया है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि कवि ने यह सब बौद्ध धर्म की कुव्यवस्था सूचित करने और अभिनय देखनेवालों के मन में उस ओर अनास्था उत्पन्न करने ही के लिए किया है। भवभूति के पूर्ववर्ती विद्वानों ने बौद्ध धर्म को निर्मूल करने के लिए उस पर प्रत्यक्ष कुठार प्रयोग किया था, परंतु भवभूति ने वही काम उस संप्रदायवालों को, परोक्ष रूप में बिना किसी प्रकार का मानसिक क्लेश पहुँचाये, अपने नाटकों द्वारा कर दिखाया। भवभूति के नाटकों को विचार-पूर्वक देखने से

यही भावना मन में उत्पन्न होती है कि बौद्ध धर्म निस्सार और वैदिक धर्म परम सारवान है।

नाटक लिखने में भवभूति का आसन कालिदास से कुछ ही नीचे है। कोई-कोई तो उसे कालिदास का समकक्ष और कोई-कोई उससे भी बढ़ गया बतलाते हैं। भवभूति ने मनुष्यों के आंतरिक भावों का कहीं-कहीं ऐसा उत्कृष्ट और ऐसा सजीव चित्र खींचा है कि उसे देखकर कालिदास का विस्मरण हो जाता है। खेद है, उसकी इस अद्भुत शक्ति का विकाश देखने और उसके द्वारा एक अकथनीय आनंद प्राप्त करने के लिए केवल हिंदी जाननेवालों का मार्ग रुद्ध-सा हो रहा है। हाँ, यह सत्य है कि एक पुराने लेखक ने भवभूति के तीनों नाटकों के अनुवाद हिंदी में किए हैं, परंतु, जहाँ तक हम समझते हैं, उनके अनुवादों से भवभूति की अलौकिक कविता का अनुमान होना तो दूर रहा, उन्हें पढ़कर पढ़नेवालों के मन में मूल-कविता के विषय में घृणा उत्पन्न होने का भय है। कहाँ भवभूति की सरस, प्रासादिक और महा-आह्लाद-दायिनी कविता और कहाँ अनुवादकजी की नीरस, अव्यवस्थित और दोषदग्ध अनुवादमाला! परस्पर दोनों में सौरस्य विषयक कोई सादृश्य ही नहीं! कौड़ी-मोहर, आकाश पाताल और ईख इंद्रायण का अंतर! अपने कथन की सत्यता को सिद्ध करने के लिए हम, यहाँ पर, मालती—माधव से दो एक उदाहरण देना चाहते हैं, जिनको देखकर

पढ़नेवाले स्थालीपुलाक-न्याय से मूल और अनुवाद का अंतर समझ जायँगे—

अपनी सखी लवंगिका के धोखे माधव का आलिंगन करके, अनंतर उसे पहचान, जब उससे मालती हट गई, तब माधव कहता है—

प्रकोष्ठतस्त्वचि निषिक्त इवावपीड्य
निर्भुग्नपीनकुचकुड्मलयाऽनया मे ।
कर्पूरहारहरिचन्दनचन्द्रकान्त-
निस्यन्दशैवलमृणालहिमादिवर्गः ॥

भावार्थ—अछूते पीन-पयोधर-रूपी मुकुलों को धारण करनेवाली इस मालती ने, कपूर हार, हरिचंदन, चंद्रकांत-मणि शैवल (सिवार), मृणाल और हिम आदि शीतल पदार्थों को द्रवीभूत करके, उन्हें एकत्र निचोड़, मेरी त्वचा पर उनके रस का लेप-सा लगा दिया । इसका अनुवाद सुनिए—

जनु कपूर चंदन रस बोरी,
हिमकन अरु मृनाल निचोरी ;
उमगे उर (!) सों हिय दुलरावति,
जनु कपूर रस पोति लगावति ।

मूल में कपूर, हरिचंदन, मृणाल और हिम को लेकर हार, चंद्रकांत और शैवल को छोड़ दिया ! मूल में एक ही क्रिया है; वह भी भूतकालिक है । अनुवाद में निचोरति, दुलरावति और लगावति तीन क्रियाएँ हैं और तीनों वर्तमान

यही भावना मन में उत्पन्न होती है कि बौद्ध धर्म निस्सार और वैदिक धर्म परम सारवान है।

नाटक लिखने में भवभूति का आसन कालिदास से कुछ ही नीचे है। कोई-कोई तो उसे कालिदास का समकक्ष और कोई-कोई उससे भी बढ़ गया बतलाते हैं। भवभूति ने मनुष्यों के आंतरिक भावों का कहीं-कहीं ऐसा उत्कृष्ट और ऐसा सजीव चित्र खींचा है कि उसे देखकर कालिदास का विस्मरण हो जाता है। खेद है, उसकी इस अद्भुत शक्ति का विकाश देखने और उसके द्वारा एक अकथनीय आनंद प्राप्त करने के लिए केवल हिंदी जाननेवालों का मार्ग रुद्ध-सा हो रहा है। हाँ, यह सत्य है कि एक पुराने लेखक ने भवभूति के तीनों नाटकों के अनुवाद हिंदी में किए हैं, परंतु, जहाँ तक हम समझते हैं, उनके अनुवादों से भवभूति की अलौकिक कविता का अनुमान होना तो दूर रहा, उन्हें पढ़कर पढ़नेवालों के मन में मूल-कविता के विषय में घृणा उत्पन्न होने का भय है। कहाँ भवभूति की सरस, प्रासादिक और महा-आह्लाद-दायिनी कविता और कहाँ अनुवादकजी की नीरस, अव्यवस्थित और दोषदग्ध अनुवादमाला! परस्पर दोनों में सौरस्य विषयक कोई सादृश्य ही नहीं! कौड़ी-मोहर, आकाश पाताल और इंद्र इंद्रायण का अंतर! अपने कथन की सत्यता को सिद्ध करने के लिए हम, यहाँ पर, मालती—माधव से दो एक उदाहरण देना चाहते हैं, जिनको देखकर

पढ़नेवाले स्थालीपुलाक-न्याय से मूल और अनुवाद का अंतर समझ जायँगे—

अपनी सखी लवंगिका के धोखे माधव का आलिंगन करके, अनंतर उसे पहचान, जब उससे मालती छूट गई, तब माधव कहता है—

> प्रोत्तप्तस्त्वचि निपिष्य दृढावपीड्य
> निर्भुग्नपीनकुचकुड्मलयाऽनया मे।
> कर्पूरहारहरिचन्दनचन्द्रकान्त-
> निष्यन्दशैवलमृणालहिमादिवर्गः॥

भावार्थ—इन्हें पीन-पयोधर-रूपी मुकुलों को धारण करनेवाली इस मालती ने, कर्पूर हार, हरिचंदन, चंद्रकांत-मणि शैवल (सिवार), मृणाल और हिम आदि शीतल पदार्थों को द्रवीभूत करके, उन्हें एकत्र निचोड़, मेरी त्वचा पर इनके रस का लेप-सा लगा दिया। इसका अनुवाद सुनिए—

> जनु तुषार चंदन रस घोरी,
> हिमकर अंग मृणाल निचोरी,
> उभरे उर (!) सों हिय चुपावति,
> जनु कपूर तन छोरि लगावति।

मूल के कर्पूर, हरिचंदन, मृणाल और हिम को लेकर हार, चंद्रकांत और शैवल को छोड़ दिया! मूल में एक ही क्रिया है, वह भी भूतकालिक है। अनुवाद में निचोरति, चुपावति और लगावति तीन क्रियाएँ हैं और तीनों वर्तमान-

लोलिंबराज

भिन्न-भिन्न भाषाओं के कवियों और विद्वानों के जीवन-चरित प्रकाशित होने से अनेक लाभ हैं। ऐसे चरितों के द्वारा उन-उन कवियों और विद्वानों की अलौकिक प्रतिभा के उदाहरणों आदि से पढ़नेवालों का बहुत मनोरंजन होता है। संस्कृत-कवियों के वृत्तज्ञान से तो समधिक और भी लाभ होता है। संस्कृत भाषा हमारी मातृभाषा हिंदी की जननी है और उसके परिशीलन की ओर प्रवृत्त होना इस प्रांत ही के नहीं, इस सारे देश के निवासियों का परम धर्म है। संस्कृत के कवियों की कविता की आलोचना पढ़ने और उनके चरित का थोड़ा-बहुत ज्ञान होने से उस भाषा की ओर मनुष्यों की प्रवृत्ति होना अधिक संभव है।

लोलिंबराज से वैद्यक विद्या के जाननेवाले संस्कृतज्ञ, औरों की अपेक्षा अधिक परिचित हैं, क्योंकि लोलिंबराज का प्रसिद्ध ग्रंथ वैद्यजीवन चिकित्सा-शास्त्र का ग्रंथ है। परंतु लोलिंबराज वैद्य ही नहीं, किंतु एक प्रसिद्ध कवि और रसिक थे।

किसी प्राचीन विद्वान् के विषय में कुछ लिखने के लिए लेखनी उठाते ही पहले यह प्रश्न उठता है कि वह

कौन था, कब हुआ, कहाँ रहा और कौन-कौन ग्रंथ उसने लिखे। परन्तु इन बातों का उत्तर देने में प्रायः हतसफल होना पड़ता है। यह खेद की बात है; परंतु क्या किया जाय, वश नहीं। किसी-किसी विरले विद्वान् को छोड़कर औरों ने अपने ग्रंथों में, अपने विषय में, कुछ लिखा ही नहीं। और, लिखा भी है तो बहुत थोड़ा। जिसने कुछ लिखा भी है उसने अपने लेख में ऐसी अत्युक्तियाँ कही हैं, और उस लेख को कवितारूपी वेष्टन से इतना लपेटा है, कि उसमें से ऐतिहासिक तत्त्व ढूँढ निकालना बड़ा कठिन काम है। लोलिंबराज भी उपर्युक्त दोष से नहीं बचे। ये अपने ग्रंथों में अपने लिए कहते हैं—

"हमने अपनी जंघा का मांस अग्नि में हवन करके पार्वती को प्रसन्न किया। पार्वती ने हमको दूध पिलाया। हम एक घड़ी में १०० श्लोक बना सकते हैं। हम कवियों के नायक हैं। हम कवियों के बादशाह हैं। गानविद्या जाननेवालों को हम गोसाँई हैं। राजाओं की सभा के हम भूषण हैं।"

यह सब कुछ अपनी प्रशंसा में आपने लिखा, परन्तु यह न लिखा कि आप कहाँ उत्पन्न हुए, कब उत्पन्न हुए, और कौन-कौन ग्रंथ आपने बनाये। अस्तु।

लोलिंबराज के बनाये हुए तीन ग्रंथ पाये जाते हैं। वैद्यजीवन, वैद्यावतंस और हरिविलास। ये तीनों छप चुके हैं। इनके सिवा और भी चार ग्रंथों का पता चलता है, जो

लोलिंबराज के बनाये हुए हैं। इनके नाम हैं—चमत्कार-चिंतामणि, रत्नकलाचरित, वैद्यविलास और लोलिंबराजीय। पर ये हमारे देखने में नहीं आये और शायद छपे भी नहीं। उनके प्रसिद्ध तीन ग्रंथों में से पहले दो वैद्यक विषय के हैं और अंतिम में कृष्ण का चरित है। इन ग्रंथों में पहला ग्रंथ वैद्यजीवन ही अधिक प्रसिद्ध है। तीसरे, अर्थात् हरिविलास में, नंद के घर कृष्ण के पहुँचाये जाने से लेकर उद्धव-संदेश तक की कथा है। काशी से निकलनेवाली काशीविद्या-सुधानिधि-नामक संस्कृत पुस्तक के दूसरे भाग के सोलहवें अंक में, लोलिंबराज के विषय में, पंडित वेचनराम शर्मा इस प्रकार लिखते हैं—

दिवाकर सूरि के सुत लोलिंबराज राजा भोज के समकालीन, सूर्य नामक नरेश के पुत्र, हरिहर की सभा के पंडित थे। वे दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे, बड़े विषयी थे, महामूर्ख थे। उनका बड़ा भाई जीविका के लिए देश विदेश घूमा करता था और वे दिन-रात न-जाने कहाँ रहकर भोजन के समय घर में उपस्थित होते थे और अपने बड़े भाई की स्त्री के परोसे हुए भोजन को आकंठ खाकर फिर बाहर चले जाते थे। एक दिन उनकी दुर्वृत्ति से अत्यंत खिन्न होकर उनके भाई की स्त्री ने उनके सामने से थाली खींच ली और क्रुद्ध होकर कहा—"रे दुष्ट! घर से आज ही तू निकल जा। आज तक व्यर्थ ही मैंने तेरा पालन पोषण किया।" ये वाक्य

लोलिम्बराज को विष में बुझाये हुए बाण के समान लगे। वे तुरन्त घर से बाहर हो गये और दक्षिण के सप्तशृंग नामक पर्वत पर जाकर वहाँ स्थापित की हुई अष्टादश भुजावाली देवी को, विद्याप्राप्ति के निमित्त, प्रसन्न करने के लिए तपस्या करने लगे। लोलिम्बराज की तपस्या से प्रसन्न होकर देवी ने उनसे 'तथास्तु' कहकर उनकी कामना पूरी की। तब से लोलिम्बराज महाकवि, महापण्डित, महान गायक और महान वैद्य हो गये।

वेंकटरामजी ने इस वार्ता को 'जनश्रुति' कहा है। यद्यपि इस विषय का प्रामाणिक लेख हमें कहीं नहीं मिला, तथापि इसकी कुछ सूचना लोलिम्बराज के ग्रंथों में मिलती है। यथा—

रत्नाकरात्मजा वत्सा सुरभिरद्य धीसारगर्भापद-
न्यस्ताध्यक्षपदाङ्कु तरङ्गयन्ती भगवत्या भारत्या भजे।
यत्प्रसादेन मया मत्तकाशिनि ! यदीयं नवसुधादेवं
पदानां श्रावयता परसुधामधाविधानोद्धुरम्॥

वैद्यजीवन में लोलिम्बराज अपनी स्त्री से कहते हैं–हे मत्तकाशिनि ! स्त्रियों में रत्नस्वरूपिणी, वैद्यकद्रव्यरूपिणी, सप्तशृंगनिवासिनी, अष्टादश भुजावाली, भगवती भवानी की मन शुद्धि करके मैं भजन करता हूँ जिसकी कृपा से, दुर्लभविधि की अमृत-सुधा को मधुर वर्णनावलि में सर्वत्र, जब नहीं थे, रच सकता हूँ।

इससे लोलिंबराज का शाक्त होना और सप्तशृंग स्थित अष्टादश-भुजावाली देवी की उपासना करना सिद्ध है। इससे यह भी सिद्ध है कि वे दाक्षिणात्य थे, क्योंकि सप्त-शृंग-पर्वत दक्षिण ही में है। देवी की उपासना का परिचय लोलिंबराज अपने वैद्यावतंस ग्रंथ में भी देते हैं। वहाँ आप कहते हैं—

हुतवहहुतजंघाजानुमांसप्रभावा-
दधिगतगिरिजाया स्तन्यपीयूषपानः।
रचयति चरकादीन् वीक्ष्य वैद्यावतंसं
कविकुलसुलतानो लाललोलिम्बराजः॥

अर्थात् जंघा और गाँठ के मांस को काट-काटकर अग्नि में होम करने के प्रभाव से प्रसन्न होनेवाली पार्वती के दुग्ध-रूपी अमृत का पान प्राप्त करनेवाला, कविकुल का सुलतान (बादशाह), लोलिंबराज, चरक आदि ग्रंथों को देखकर वैद्यावतंस की रचना करता है।

गिरिजा ने प्रसन्न होकर जिसे पुत्रवत् अपना स्तन पान कराया, वह कवियों का बादशाह हो गया तो क्या आश्चर्य! उसे कवियों, वैद्यों, ज्योतिषियों, गायकों और सभी विषयों के विद्वानों का शाहंशाह होना चाहिए। पण्डित गट्टूलाल और अंबिकादत्त व्यास इत्यादि आधुनिक विद्वान् भी शरीर के मांस का एक भी टुकड़ा हवन किये बिना दो एक घड़ी में सौ अनुष्टुप् श्लोकों की रचना कर सकते

थे। अब लोलिंबराज की गर्वोक्ति कोई गर्वोक्ति न हुई। गिरिजा का स्तन पान पाकर यदि गणेश और कार्तिकेय की बराबरी उन्होंने न की तो क्या किया? हम यह नहीं कहते कि लोलिंबराज की उक्ति मृषा है, नहीं, पार्वती उन पर अवश्य प्रसन्न हुई होंगी। हम यह कहते हैं कि पार्वती की प्रसन्नता का कोई विशेष लक्षण लोलिंबराज की कृति में नहीं मिलता। लोलिंबराज के तीनों ग्रंथ, जो उपलब्ध हुए हैं, बहुत छोटे-छोटे हैं। यद्यपि उनकी कविता सरस और प्रासादिक है, तथापि वह कालिदास, भवभूति और श्रीहर्ष आदि की कविता की बराबरी नहीं कर सकती, और इन कवियों को शायद गिरिजा के स्तन पान का सौभाग्य न प्राप्त हुआ था। संभव है, लोलिंबराज ने और कोई अद्भुत ग्रंथ बनाये हों, जिनका पता अभी तक किसी को न लगा हो, अथवा देश विप्लव के कारण वे नष्ट हो गये हों।

ऊपर जिस अनश्रुति का उल्लेख किया गया है उसमें कही गई इस बात का प्रमाण लोलिंबराज के लेख से मिल गया कि ये दाक्षिणात्य थे और सप्तशृंग-पर्वत पर उन्होंने देवी की उपासना की थी। परंतु इस बात का पता ठीक-ठीक नहीं लगता कि ये किस समय हुए। हरिविलास काव्य के प्रति सर्ग के अंत में एक श्लोक है, जिसका पाठ सब सर्गों में प्रायः एक हो-सा है। दो सर्गों में, तीसरी पंक्ति में, कुछ अंतर है, और कहीं नहीं। वह श्लोक यह है—

यह श्लोक अपह्नुति अलंकार का एक बहुत अच्छा उदाहरण है, परंतु इतने से लोलिंवराज को भोज का समकालीन बतलाना युक्तिसंगत नहीं। हम नहीं कह सकते कि यह पद्य किस लोलिंब से संबंध रखता है, वैद्यजीवन आदि के कर्ता लोलिंबराज से, अथवा इस नाम के और किसी दूसरे कवि से। फिर इसका भी क्या प्रमाण कि किसी ने भोज के अनंतर उनके और लोलिंबराज के नाम से यह श्लोक नहीं बना डाला? बल्लाल-मिश्र के संकलित किये हुए भोजप्रबंध को जब हम देखते हैं तब वहाँ कालिदास, भारवि, भवभूति, माघ, मल्लिनाथ, श्रीहर्ष आदि सभी कवियों की उक्तियाँ भोज के विषय में पाई जाती हैं। जिन कवियों का वहाँ नाम आया है उनमें परस्पर सैकड़ों वर्ष का अंतर है। इसीलिए ऐसे श्लोकों से ऐतिहासिक तत्त्व का पता लगाना कठिन है। फिर, भोज एक विद्वान् राजा था, वह कवियों को आदर की दृष्टि से देखता था। अतएव यह कहना कि उसने लोलिंबराज को ठूँठ की उपमा दी, मानों उसके सिर पर अरसिकता और असभ्यता का मुकुट रखना है।

लोलिंबराज की कविता में आधुनिकता के चिह्न पाये जाते हैं। उनमें से फारसी के शब्द "सुलतान" और "पादशाह" बड़े ही जाज्वल्यमान चिह्न हैं। ऊपर एक श्लोक दिया जा चुका है जिसमें लोलिंबराज ने "सुलतान" शब्द का

प्रयोग किया है। एक श्लोक अब हम वैद्यावतंस से और उद्धृत करते हैं, जिसमें "पादशाह" शब्द आया है—

समस्तपृथ्वीपतिपूजनीयो
दिगङ्गनाश्लिष्टयश शरीर. ।
गुणिप्रिय ग्रन्थममु व्यतानी-
ल्लोलिम्बराज. कविपादशाह. ॥

दिग्वधूरूपिणी स्त्रियों ने जिसके यशोरूपी शरीर का आलिंगन किया है, जो समस्त राजवर्ग का पूजनीय है, जो कवियों का पादशाह है—ऐसे लोलिंबराज ने गुणवानों के प्रीतिपात्र इस ग्रंथ की रचना की।

गुणवानों के प्रीतिपात्र इस वैद्यावतंस में केवल ४८ श्लोक हैं और उनमें वैद्यकशास्त्र के अनुसार पदार्थों के गुण दोष का वर्णन है। इस पद्य में अपने को सब राजाओं का पूजनीय बतलाकर और अपने यशःशरीर को दिगन्त में पहुँचाकर लोलिंबराजजी कवियों के पादशाह बन गये हैं। ये "पादशाह" और "सुलतान" शब्द इस बात की साक्षी दे रहे हैं कि उस समय मुसलमानों का प्रवेश दक्षिण में हो गया था और उनके द्वारा बहुत-से फ़ारसी शब्द लोगों के कान तक पहुँच गये थे। दक्षिण में बीजापुर का मुसलमानी राज्य बहुत पुराना है। शिवाजी के कई सौ वर्ष पहले वहाँ मुसलमानों का राज्य स्थापित हो गया था। अतः यह जान पड़ता है कि मुसलमानों का प्रवेश दक्षिण में होने के बाद लोलिंबराज

का उदय हुआ है। अर्थात् वे कोई चार पाँच सौ* वर्ष के इधर ही हुए हैं। भोज के समय लोलिंबराज का होना, बिना किसी दृढ़ ऐतिहासिक प्रमाण के, नहीं माना जा सकता। लोलिंबराज ने जिन सूर्य और हरिहर राजाओं

---

* महाजनमंडल नामक गुजराती पुस्तक के कर्ता ने लोलिंबराज का होना शक १५५५ अर्थात् १६३४ ईसवी के लगभग माना है। इससे हमारे कथन की पुष्टि होती है। इस पुस्तक में लिखा है कि लोलिंबराज जुन्नर के निवासी थे। यह नगर दक्षिण में पूना जिले में है। परन्तु ये सब बातें निराधार लिखी गई हैं। इनका कोई प्रमाण इस पुस्तक में नहीं। लोलिंबराज के तपस्या करने और अपने शरीर का मांस होमने आदि के विषय में भी इसमें प्रायः वही बातें लिखी हैं जो हमने लिखी हैं। इस पुस्तक में इतना अधिक लिखा है कि लोलिंबराज की स्त्री रत्नकला "बादशाह" की लड़की थी। बादशाह ने लोलिंबराज से पूछा कि हमारी गर्भवती रानी के लड़का होगा या लड़की। पूछने के समय बादशाह की युवा कन्या उनके पास खड़ी थी। उसे देखकर लोलिंबराज ने कहा कि मेरा उत्तर ठीक निकलने पर यदि आप मुझे यह कन्या देना स्वीकार करें तो मैं आपके प्रश्न का उत्तर बतला दूं। बादशाह ने यह बात अंगीकार कर ली। लोलिंबराज ने कहा, आपकी रानी के पुत्र होगा। पुत्र ही हुआ और वह कन्या लोलिंबराज को मिल गई। उसके साथ उन्होंने विवाह किया और उसका नाम रत्नकला रक्खा। यदि यह बात सत्य है तो लोलिंबराज भी हमारे पंडितराज जगन्नाथ राय के साथी हुए। परन्तु महाजनमंडल के कर्ता ने इन बातों का कोई प्रमाण नहीं दिया। यह भी नहीं लिखा कि वह "बादशाह" कौन था और कहाँ का था।

बादशाह की युवा लड़की का एक अपरिचित के सामने, अपने पिता के पास, खड़ा रहना हमें तो संभव नहीं जान पड़ता।

का नाम अपने ग्रंथों में दिया है उनका कुछ भी पता नहीं चलता। चोल, कर्णाटक, पांड्य और आंध्रदेश के राजाओं की जो नामावली अब तक ज्ञात हुई है उनमें इन राजाओं का नाम नहीं। जान पड़ता है, ये कोई छोटे मांडलिक राजा थे। वैद्यक का प्रसिद्ध ग्रंथ वाग्भट्ट, चरक और सुश्रुत से बहुत पीछे का है। इस वाग्भट्ट का उल्लेख लोलिंबराज ने अपने वैद्यावतंस में किया है, जिससे यह सिद्ध है कि लोलिंबराज वाग्भट्ट के पीछे हुए हैं। और वाग्भट्ट का समय ईसा की बारहवीं शताब्दी के लगभग माना जाता है।

लोलिंबराज ने अपने मुँह अपनी मनमानी प्रशंसा की है। ऐसी प्रशंसा के कई उदाहरण ऊपर दिये जा चुके हैं। यहाँ पर एक उदाहरण हम और देते हैं, क्योंकि उसमें उन्होंने अपने पिता का नाम लिखा है। यह श्लोक वैद्य-जीवन के अंत में है—

> आयुर्वेदपयोनिधिपारगमने धन्वन्तरिः केवलं
> लीला गानविदां द्विजाधिपसुधाम्भोधिप्रभावानिधिः।
> उत्तंसः कविताजुषां महितो भूभृद्गणाभ्यर्चितः
> श्रीमान्माधवसूनुरेष विबुधो लोलिम्बराजः कविः॥

अर्थात्, आयुर्वेद में जो धन्वन्तरि के समान है, गानविद्या के जाननेवालों की जो लीला है, द्विजाधिपसुधासमुद्र का जो चंद्रमा है, कवियों का जो शिरोमणि है, और राजाओं

लोलिंबराज के ग्रंथों में वैद्यावतंस बहुत ही छोटी पुस्तक है। जैसा ऊपर कहा गया है, उसमें केवल ५८ श्लोक हैं और उनमें पदार्थों के गुण-दोष का विवरण है। वैद्यावतंस के आदि और अंत में लोलिंबराज ने मंगलाचरण के जो दो श्लोक लिखे हैं वे, सानुप्रास होने के कारण, बहुत ही मनोहर हैं। उनमें से पहला श्लोक यह है—

अनुकृतमरकतवर्णा शोभितकर्णा कदम्बकुसुमेन।
नखमुखमुखरितवीणा मध्ये क्षीणा शिवा शिवं कुर्यात्॥

मरकतमणि के वर्ण का जिसने अनुकरण किया है, कदंब पुष्प से जिसके कान शोभित हैं, नख से जो वीणा को बजा रही है—ऐसी क्षीणकटी शिवा (पार्वती) मंगल करे।

दूसरा, अर्थात् वैद्यावतंस का ५७वाँ श्लोक यह है—

अधरन्यकृतबिंबा जितशशिबिम्बा मुखप्रभया।
गमनाविरलविलम्बा विपुलनितम्बा शिवा शिवं कुर्यात्॥

अपने अधरों से बिंबाफल का धिक्कार करनेवाली और मुख की कांति से चंद्रबिंब को जीतनेवाली, मंदगामिनी तथा विस्तृत-नितंब शालिनी शिवा मंगल करे।

यह अनुमान होता है कि वैद्यावतंस लोलिंबराज का पहला ग्रंथ है। इसमें इन दो श्लोकों के अतिरिक्त, हमारी समझ में, एक ही और श्लोक है जिसे बहुत अच्छी कविता कह सकते हैं। करेले के गुणों का वर्णन करते हुए लोलिंबराज उसकी प्रशंसा इस प्रकार करते हैं—

जाम्बूनदीया प्रतिमां यदीयां वक्षःस्थले वामदृशो वहन्ति ।
अशेषशास्त्रावलिमण्डनत्वं तत्कारवेल्लं न लभेत कस्मात् ?

अर्थात्, जिसकी सुवर्ण की प्रतिमा को स्त्रियाँ अपने हृदय पर धारण करती हैं वह करेला क्यों न सब शास्त्रों में श्रेष्ठ समझा जाय ? इसमें जो ध्वनि है वह सहज ही ध्यान में आ जाने-योग्य है ।

रचना की प्रणाली और कविता के गौरव-लाघव का विचार करने से ज्ञात पड़ता है कि हरिविलास को लोलिंबराज ने वैद्यजीवन के पीछे बनाया है । जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, हरिविलास में केवल ५ सर्ग हैं और सब सर्गों का मिलाकर ३१४ श्लोक हैं । इस काव्य में उद्धव-संदेश तक कृष्ण की लीला का ललित वर्णन है । इसकी कविता प्रायः सरल है । लोलिंबराज की कविता का सबसे बड़ा गुण यह है कि वह सरल होकर सरस भी है । हरिविलास के कोई-कोई पद्य बड़े ही हृदयग्राही हैं । यहाँ पर हम केवल दो पद्य देकर संतोष करेंगे । यथा वर्णन—

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

इस पद्य में [illegible] की भूमि में प्रतिबिम्ब [illegible] श्यामा को धारण किया; और वे [illegible] कवि [illegible]

कठोर वाणों से पीड़ा पहुँचाने लगा, गुणवान् राजा के समान शृंगार-रस ने ऊँची प्रतिष्ठा पाई, और नवला कामिनी की लज्जा के समान रात्रि ने क्रम-क्रम से कृशता स्वीकार की, अर्थात् छोटा होना आरंभ किया। देखिए, कैसी मनोहर उपमाओं के द्वारा, कैसी सरल रीति से, लोलिंबराज ने वसंत का आगमन वर्णन किया है। इनकी उपमाएँ प्रायः बहुत अच्छी हैं। हरिविलास से शरद्वर्णन का एक श्लोक हम और उद्धृत करते हैं—

वृद्धाङ्गनेव विजहौ सरिदुद्धतत्वं,
वेदान्तिनामिव मतं शुचि नीरमासीत्।
चन्द्रे प्रभा युवतिवक्त्र इवाद्भुताभू-
द्विद्वत्कवित्वमिव केकिरुतं न रेजे॥

वृद्ध स्त्री के समान नदियों ने अपनी उद्धतता छोड़ दी, वेदांतियों के मत के समान जल स्वच्छ हो गया, कामिनी के मुखमंडल के समान चंद्रमा अधिक शोभायमान हुआ, और विद्वानों की कविता के समान मोरों की केका अरोचक हुई। इस पद्य के चौथे चरण में लोलिंबराज ने एक अमूल्य बात कही है। सच है, विद्वान् होने से ही कोई कवि नहीं हो जाता। यदि उसमें कवित्व-शक्ति का स्वाभाविक बीज नहीं, तो मनुष्य चाहे जितना उद्भट विद्वान् हो, उसकी कविता कदापि सरस और मनोहारिणी नहीं होती। रस ही कविता का प्राण है और जो यथार्थ कवि है उसकी कविता

में रस अवश्य होता है। नीरस कविता कविता ही नहीं। लोलिम्बराज ने वैद्यजीवन में ठीक कहा है—

यतो न नीरसा भाति कविताकुलकामिनी।

अर्थात्, कविता-रूपिणी कुल-कामिनी नीरस होने से शोभा नहीं पाती।

लोलिम्बराज के ग्रंथों में वैद्यजीवन सबसे श्रेष्ठ है। यद्यपि इसका विषय वैद्यक है, तथापि इसे काव्य ही कहना चाहिए। इसमें काव्य के प्रायः सभी लक्षण विद्यमान हैं। कोई श्लोक ऐसा नहीं जिसमें लोलिम्बराज ने कोई-न-कोई मनोरंजक उक्ति न कही हो। इसमें उन्होंने अपनी अच्छी कवित्व शक्ति दिखाई है। पार्वती के स्तन पान करने का प्रभाव यदि कहीं कुछ दर्शित होता है तो इसी ग्रंथ में दर्शित होता है। हमने कई एक अनुभवशाली वैद्यों से सुना है कि वैद्यजीवन में कही गई औषधियाँ भी सब प्रायः अनुभूत अतएव अव्यर्थ हैं। इनमें जो काढ़े हैं वे, सुनते हैं, बिना अपना गुण दिखाये नहीं रहते। इस ग्रंथ को लोलिम्बराज ने अपनी स्त्री रत्नकला को सम्बोधन करके बनाया है और किसी किसी श्लोक में उसके साथ अच्छे विनोद किये हैं। अभिप्राय ग्रंथ शृंगारिक भावों से भरा हुआ है। इसमें कहीं उपमा, कहीं रूपक, कहीं कूट, कहीं भ्रान्ति, कहीं अन्योक्तिता, कहीं अतिशयोक्तिता, कहीं वर्णा गुण, कहीं क्रिया गुण, कहीं रूप, कहीं गुण है। लोलिम्बराज ने इसे हृदयहारी बनाने में कोई कसर नहीं की।

इसमें सब मिलाकर पाँच विलास हैं, और प्रत्येक विलास में नीचे लिखे अनुसार विषययोजना और श्लोक सख्या है—

विलास	विषय	श्लोक-सख्या
प्रथम	ज्वर-प्रतीकार	७६
द्वितीय	अतीसार और ग्रहणी-प्रतीकार	२६
तृतीय	कासश्वास-प्रतीकार	३६
चतुर्थ	राजयक्ष्मादि-रोग-प्रतीकार	४३
पंचम	वाजीकरण	२१
	जोड़	२०५

अब लोलिंबराज की रसिकता के दो-चार उदाहरण सुनिए। वैद्यजीवन के आरम्भ में आप कहते हैं—

येषां न चेतो ललनासु लग्नं
मग्नं न साहित्यसुधासमुद्रे।
ज्ञास्यन्ति ते किं मम हा प्रयासा-
नन्धा यथा वारवधूविलासान्॥

जिन्होंने साहित्यरूपी सुधा-समुद्र में डुबकी नहीं लगाई और जिनका मन ललनाओं में लीन नहीं, वे इस ग्रंथ की रचना करने में होनेवाले मेरे परिश्रम को उसी प्रकार न जान सकेंगे जिस प्रकार नेत्रहीन मनुष्य वार वनिताओं के हाव-भावों को नहीं जान सकते। वैद्यजीवन बनाने में क्या आपको सचमुच ही बड़ा परिश्रम हुआ? एक घड़ी में सौ

श्लोक बनानेवाले को २०५ श्लोक लिखने में कितना श्रम हो सकता है ? यह बात लोलिंबराज की बहुत यथार्थ है कि जिसे साहित्य शास्त्र का ज्ञान नहीं वह कवि के कर्तव्य को अच्छी तरह नहीं जान सकता। श्रीकण्ठचरित में लिखा है—

विना न साहित्यविदा परत्र
गुणः कथञ्चित् प्रथते कवीनाम्।
आलम्बते तत्क्षणमम्भसीव
विस्तारमन्यत्र न तैलबिन्दुः॥

अर्थात्, साहित्य शास्त्र के ज्ञाता बिना, कवियों के गुण अच्छी तरह नहीं विस्तार पाते। तेल का बूँद पानी ही पर फैलता है।

लोलिंबराज की उपमाएँ बहुत अच्छी हैं। यद्यपि वे अद्भुत नहीं हैं, तथापि ऐसी चुटीली हैं कि उनके कारण [illegible] पढ़ते हुए [illegible] में [illegible] हो जाती हैं। उनकी सारी उपमाएँ प्राय शृंगार-रसात्मक हैं, तथापि उद्वेगजनक नहीं। दो एक सुनिए—

[illegible]
[illegible]।
[illegible]
[illegible]॥

[illegible]

श्री—बेल

घन—नागरमोथा

धान्य—धनियाँ

विश्व—सोंठ

अर्थात्, जिसको अतीसार नहीं है उसे इन औषधियों के होने से कोई लाभ नहीं। इनके काढ़े से अतीसार जाता रहता है।

एक छोटा-सा कूट श्लोक सुनिए—

> रावणस्य सुतो हन्यात् मुखवारिजधारित।
> श्वसनं कसनं चापि तमिवानिलनन्दन॥

अर्थात्, मुखकमल में रखने से रावण का लड़का, श्वास और खाँसी दोनों का वैसे ही नाश करता है जैसे उसका (रावण के लड़के का) नाश पवनसुत ने किया था। हनूमान् के हाथ से मारे जानेवाले रावण के लड़के का नाम अक्ष था। अक्ष बहेड़े को कहते हैं। अर्थात् बहेड़े को मुँह में रखने से श्वास और खाँसी जाती रहती है।

लोलिम्बराज की एक पहेलिका सुनाकर हम इस व्यापार से विरत होंगे—

> भिन्दन्ति के कुञ्जरकर्णपालिं
> किमव्ययं वक्ति रते नवोढा।
> सम्बोधनं नु किनु रक्तपित्तं
> निहन्ति वामोरु! वद त्वमेव॥

हे वामोरु (अच्छी जंघावाली) ! तू मुझे यह बतला कि हाथियों के मस्तक का विदारण कौन करता है ? उत्तर— 'सिंहा.' । यह भी बतला कि नवला कामिनी रतोत्सव के समय किस अव्यय का उच्चारण बार-बार करती है ? उत्तर— 'न' । यह भी तू बतला कि 'नु' शब्द का संबोधन क्या है ? उत्तर—'न ' । और यह भी बतला कि रक्त पित्त का नाश कौन ओषधि करती है ? उत्तर—'सिंहानन ' । अर्थात् "सिंहा, न, न " इन तीनों शब्दों को एकत्र करने से 'न' आगे होने के कारण 'सिंहा ' के विसर्गो का लोप हो गया और 'सिंहानन ' शब्द सिद्ध हुआ । सिंहानन नाम अडूसे का है । अडूसे के काढ़े से रक्त पित्त जाता रहता है ।

वैद्यजीवन की कविता बहुत मनोहारिणी है । परंतु अब अधिक उदाहरण उद्धृत करने की जरूरत नहीं । लोलिंबराज की जितनी कविता उपलब्ध हुई है उससे यह प्रमाणित होता है कि वे अच्छे कवि थे । उनकी कविता में क्लिष्टता दोष नहीं । यह उनके स्वाभाविक कवि होने का प्रमाण है ।

अप्रैल, १६१३

फ़ारसी-कवि हाफ़िज़

हाफ़िज फारसी का बहुत बड़ा कवि हो गया है। उसे फारसी के कवियों का शाहंशाह कहना चाहिए। गुलिस्ताँ और बोस्ताँ के लिखनेवाले शेख़सादी से भी, कविता में, उसकी बराबरी नहीं की जा सकती। कविता से जहाँ तक संबंध है हाफिज को फारसी का कालिदास कहना चाहिए। हाफ़िज़ में कवित्व शक्ति अपूर्व थी। वह स्वाभाविक कवि था। उसकी उक्तियाँ ऐसी भावगर्भित और ऐसी नैसर्गिक हैं कि पढ़ते ही हृदय पर विलक्षण प्रभाव उत्पन्न करती हैं। प्रेम, पूज्यभाव और आतंक—सभी—यथास्थान मन में आविर्भूत हुए बिना नहीं रहते। ऐसे गंभीर भाव, ऐसी हृदयद्रावक उक्तियाँ, सरल होकर भी ऐसी परिमार्जित भाषा, फ़ारसी में, हाफ़िज के "दीवान" में ही मिल सकती है, अन्यत्र बहुत कम। परंतु ऐसे महाकवि के जीवन का बहुत ही कम वृत्तांत जाना गया है।

हाफिज का नाम मुहम्मद शम्सुद्दीन है। हाफ़िज़ उसका तख़ल्लुस था। अपने दीवान में उसने इस तख़ल्लुस का बहुत ही अधिक प्रयोग किया है। इसीलिए वह अपने मुख्य नाम से प्रसिद्ध नहीं, तख़ल्लुस से ही प्रसिद्ध है।

हाफ़िज़ के माता पिता अच्छी दशा में थे, परन्तु हाफ़िज़ ने दरिद्रावस्था ही में अपनी उम्र बिताई। यह बात उसकी कविता से सूचित होती है। वह फ़ारस के शीराज़ नगर में, ईसा की चौदहवीं सदी के आरंभ में, उत्पन्न हुआ और वहीं बुड्ढा होकर मरा। यह ठीक-ठीक नहीं मालूम कि किस सन्, किस महीने, और किस तारीख़ को उसका जन्म हुआ, परंतु उसके मरने का समय निश्चय-पूर्वक ज्ञात है। शीराज़ में उसकी जो क़ब्र है उस पर ७९१ हिजरी, अर्थात् १३७३ ईसवी, खुदा हुआ है। उस पर एक शायर ने उसके मरने की तारीख़ भी यह लिखी है—

چراغ اهل معنی خواجه حافظ
که شمعی بود از نور تجلی
چو در خاک مصلی ساخت منزل
بجو تاریخش از خاک مصلی

चिराग़े अह्ले मानी ख़्वाजा हाफ़िज़
कि शमए बूद अज़ नूरे तजल्ली
चु दर ख़ाके मुसल्ला साख़्त मंज़िल
बिजो तारीख़श अज़ ख़ाके मुसल्ला

अर्थात्

अर्थवेत्ताओं के दीपक ख़्वाजा हाफ़िज़ ने, जो कि नूरे के तेज की समान था, ख़ाके मुसल्ला (ईदगाह या नमाज़ पढ़ने की जगह) में निवास पाई। उसकी तारीख़

दर्शी हो गया। शेख मुहम्मद अत्तार नाम के प्रसिद्ध फ़कीर से उसने दर्शन-शास्त्र सीखा। कुछ दिनों में हाफिज भी इन शेख साहब का अनुयायी हो गया। उस पर शाह के वज़ीर हाजी क़यामुद्दीन की बड़ी कृपा थी। उसने विशेष करके हाफिज ही के लिए एक कॉलेज खोला। उस कॉलेज में हाफ़िज कुरान पढ़ाने पर मुक़र्रर हुआ। परंतु हाफ़िज का स्वभाव बहुत ही उच्छृंखल था। वह मद्यप भी था। उसे बाहरी दिखाव बिलकुल पसंद न था। वह कहता था कि अमीर और गरीब दोनों का ईश्वर एक ही है। उसके लिए मसजिद, मंदिर और गिरजाघर तुल्य थे। इसलिए उसके साथी अध्यापकों तथा और-और विद्वानों ने भी हाफ़िज के आचरण पर कटाक्ष करना आरंभ किया। हाफिज से भी मौन नहीं रहा गया। उसने भी अपनी कविता में उन लोगों की खूब दिल्लगी उड़ाई और उनकी अंध-धर्मभीरुता, उनके दांभिक आचरण और उनके मिथ्या विश्वासों पर, मौक़ा हाथ आते ही, बड़े ही मर्म-भेदी व्यंग्य कहे। हाफिज को लोग कुछ-कुछ नास्तिक समझते थे। और-और बातों के सिवा इसका एक कारण यह भी था कि हाफिज ने मंसूर नाम के पहुँचे हुए फ़क़ीर की प्रशंसा में कविता की थी। यह फ़क़ीर अपने को "अनल-हक़" (अहं ब्रह्मास्मि) कहता था। बड़ी दुर्दशा करके उसे फाँसी दी गई थी, परंतु अंत तक वह "अनल-हक़" ही कहता रहा।

हाफ़िज़ की कीर्ति बहुत शीघ्र देश-देशांतरों में फैल गई। उसकी मनोमोहिनी कविता का रस-पान करके लोग मस्त होने लगे। अनेक शक्तिशाली बादशाहों और अमीरों ने उसे अच्छे अच्छे पारितोषिक भेजे। किसी किसी ने हाफ़िज़ को बड़े प्रेम से अपने यहाँ आने का आवाहन किया। सुनते हैं, दक्षिण में, बीजापुर के बादशाह महमूदशाह बहमनी ने भी हाफ़िज़ को अपने यहाँ, इस देश में, पधारने के लिए आमंत्रण के साथ जहाज़ भेजा था। इस आमंत्रण को हाफ़िज़ ने स्वीकार भी कर लिया था। यहाँ तक कि हिन्दोस्तान को आने के लिए वह शीराज़ से चल भी दिया परंतु सामुद्रिक सफ़र में उसे कुछ कष्ट हुआ। इसलिए कुछ दूर आकर वह शीराज़ को लौट गया। उस समय बंगाले के मुसम्मात सूरेशाह ने भी, सुनते हैं, उसे बुलाया था, परंतु उसने आदर-पूर्वक इस निमंत्रण को भी अस्वीकार कर दिया। यज़्द के अधिकारी शाहिया एयूब मुज़फ़्फ़र के बहुत कहने-सुनने पर, एक बार हाफ़िज़ उसके यहाँ गया। पर वहाँ जाने से उसे प्रसन्नता न हुई। थोड़े ही दिनों में वह शीराज़ लौट आया और फिर कभी उसने उस शहर को नहीं छोड़ा। जब तक वह यज़्द में था, शीराज़ को लौटने के लिए वह बहुत ही उत्सुक था।

हाफ़िज़ के गृहस्थाश्रम जीवन के विषय में बहुत ही कम बातें ज्ञात हैं। उसने एक कविता में अपनी स्त्री की ओर

ये दरवेश दीवाने-हाफिज़ से अच्छी अच्छी उक्तियाँ सुना कर यात्रियों को प्रसन्न करते हैं। जिस जगह हाफिज़ की समाधि है उसका नाम खाके-मुसल्ला है।

हाफिज ने यद्यपि और कई छोटी-छोटी किताबें लिखी हैं, परन्तु उसका दीवान सबसे अधिक प्रसिद्ध है। वह हाफ़िज की कही हुई उत्तमोत्तम गज़लों का संग्रह है। प्रत्येक ग़जल में पाँच से लेकर सोलह तक बैत हैं। प्रायः प्रत्येक अंतिम बैत में हाफिज ने अपना नाम दिया है। हाफिज की ग़जलें वर्ण-क्रमानुसार रक्खी गई हैं। इससे यह नहीं जाना जाता कि कौन गजल पहले और कौन पीछे बनी है।

हाफिज़ की कविता के विषय में बहुत मत-भेद है। कोई कोई कहते हैं कि उसमें केवल पार्थिव प्रेम और लौकिक बातों का वर्णन है। परन्तु कोई-कोई इसके प्रतिकूल मत देते हैं। वे कहते हैं कि हाफिज ने जो कुछ कहा है सब अलौकिक और अपार्थिव विषय में कहा है—अर्थात् उसकी कविता केवल हक़ानी है, वह केवल ईश्वर-विषयक है। यह मत सूफी-सम्प्रदाय के मुसलमानों का है। वे हाफ़िज़ की कविता को ईश्वर पर घटाते हैं और कहते हैं कि उसका यथार्थ भाव समझने की कुंजी केवल उन्हीं के ... । परन्तु जिन्होंने हाफ़िज़ की कविता का बहुत ... किया है और चिरकाल तक उसके परिशीलन ... उसमें पार्थिव विषय

नी हैं और अपार्थिव भी। उसका सृष्टि-सौंदर्य-वर्णन, उसकी मनोमोहिनी शृंगारिक उक्तियाँ और मद्य प्राशन विषयक उसके विलक्षण कथन आदि का विचार करके विद्वानों का मत है कि इन सब बातों को हाफिज ने ईश्वर को लक्ष्य करके नहीं कहा। इन बातों का साधुता अर्थात् फ़क़ीरी से बहुत कम संबंध है।

हाफ़िज़ की कविता स्वाभाविक है। उसकी कल्पना शक्ति बहुत उद्दंड है। उसकी किसी किसी कल्पना को सुनकर हृदय में आतंक-सा उत्पन्न हो जाता है। उसने कोई-कोई बात बहुत ही अद्भुत कही है। उसके दीवान की कई आवृत्तियाँ बर्लिन, लन्दन और पेरिस में छपी हैं। उसकी कविता के अनुवाद भी विदेशी भाषाओं में हो गये हैं। सर विलियम जोंस और अध्यापक कावेल, एमर्सन और डि हरबेलाट आदि ने उस पर बहुत कुछ लिखा है। बंबई के श्रीयुत के० एम० जौहरी, एम्० ए०, एल्० एल्० बी० ने भी थोड़ेसे हाफ़िज़ का अनुवाद अँगरेज़ी में किया है। फ़ारिस में हाफ़िज़ की कविता का इतना अधिक प्रचार है कि वहाँ के पढ़े लिखे सामाजिक मनुष्यों को वह कंठ रहती है। गरीब और अमीर सभी उसकी कविता का आदर करते हैं। फ़ारिस के रेगिस्तान में कूच-कूच तक सफ़र करने वाले काफ़िले और ऊँटों के हाँकनेवाले, हाफ़िज़ की ग़ज़लों को बड़े प्रेम से गाते हैं और उनका पाठ करके मार्ग का श्रम

परिहार करते हैं। हाफिज फारिस का सबसे अधिक प्यारा और प्रसिद्ध कवि है।

फारिस के विद्वान् समालोचकों का मत है कि हाफिज की कविता निकम्मी—दूषित—ठहराई जा सकती है, परन्तु उसकी तुलना और किसी कविता से नहीं की जा सकती। उसकी कविता अनन्वयालंकार का सच्चा उदाहरण है। उसकी समता उसी से हो सकती है और किसी से नहीं। वह वही है। हाफिज ने जो कुछ कहा है, नया ही कहा है। उसकी उक्तियों में उच्छिष्टता नहीं। उसमें दोष हो सकते हैं, परंतु वैसे दोष उसी में पाये जा सकेंगे, और कहीं नहीं। उसकी कविता में जो रमणीयता है वह उसी में है। उसे अन्यत्र ढूँढना व्यर्थ है।

हाफिज के बराबर प्रतिभाशाली कवि होना दुर्लभ है। उसके समान ललित और मधुर-भाषी दूसरा कवि, संस्कृत को छोड़कर, और भाषाओं में नहीं पाया जाता। हाफिज की कविता का आनंद, उसके दीवान को फारसी ही में पढ़ने से, अच्छी तरह आ सकता है। अनुवाद में वह रस नहीं आता। हाफिज़ को, पंडितराज जगन्नाथराय की तरह, अपनी कविता का गर्व भी था। उसने कई जगह, इस विषय में, गर्वोक्तियाँ कही हैं—ये गर्वोक्तियाँ चाहे सचमुच ही अभिमान-जन्य हों और चाहे यों ही स्वाभाविक रीति पर उसके मुँह से निकल गई हों। पर उसके मुँह से उसकी

गर्मागर्मियाँ भी अच्छी लगती हैं। वे उसी प्रकार निकलती हैं जैसे फूलों से मकरन्द टपकता है अथवा इक्षु से रस निकलता है।

यहाँ पर, हम, हाफिज की रसवती कविता के दो-चार नमूने देना चाहते हैं और साथ ही मुंशी नानकचन्दजी का किया हुआ पद्यात्मक अनुवाद भी हम प्रकाशित करते हैं—

(१)

صبا اگر گذری افتدت بکشور دوست
بیار نفحهٔ از گیسوی معنبر دوست

शब्दांतर

सबा अगर गुज़रे उफ़्तदत् बकिश्वरे दोस्त।
बियार नफ़हए अज़ गेसुए मुअंबरे दोस्त॥

अनुवाद

पवन मीत जो कभी जाय तू मेरे प्राणप्यारे के देश।
उनके केश सुगंधित से कुछ ले आना सुगंध का लेश॥

(२)

بجان او که بشکرانه جان برافشانم
اگر بسوی من آری پیامی از بر دوست

शब्दांतर

बजाने ऊ कि बशुकराना जाँ बरअफ़्शानम।
अगर बसूये मन आरी पयामे अज़बरे दोस्त॥

अनुवाद

प्यारे की है शपथ करूँ मैं तुझ पर नौछावर निज प्राण।
एक सँदेसा प्राणनाथ का जो तू मुझको देवै आन॥

(३)

اگر چنانچه دراں حضرتت نباشد بار
برائے دیدہ بیاور غبارے از در دوست

अक्षरांतर

अगर चुनाँच दरॉं हजरतत न बाशद बार।
बराय दीद बियावर गुबारे अज दरे दोस्त॥

अनुवाद

और न जो तू जाने पावै उसके सम्मुख किसी प्रकार।
नैनों के अंजन को रजकण लादे उसका द्वार बुहार॥

(४)

دل شوق لبت مدام دارد
یارب ز لبت چه کام دارد

अक्षरांतर

दिल शौक़े लबत मुदाम दारद।
यारब ज लबत चि काम दारद॥

अनुवाद

मन में तेरे अधर की रहत निरंतर चाह।
कौन हेत जाने हगे कछु न याकी थाह॥

(५)

جان شربت مهر و بادهٔ شوق
در ساغر دل مدام دارد

अक्षरांतर

जाँ शरबते मह्रो बादए शौक़।
दर साग़रे दिल मुदाम दारद॥

अनुवाद

मधुरासव-अनुराग अरु प्रेम-वारुणी-धार।
अंतर घट में भर रहै निज मन मुकुर निहार॥

(६)

شوریده زلف یار دایم
در دام بلا مقام دارد

अक्षरांतर

शोरीदए ज़ुल्फ़े यार दायम।
दर दामे बला मुक़ाम दारद॥

अनुवाद

घुँघराली लट की लगी जाके मन की लाग।
नाग पाश में बद्ध रहै भैंवत सकल सुख त्याग॥

(७)

با یار کجا نشیند آنکو
اندیشهٔ خاص و عام دارد

बौद्धाचार्य शीलभद्र

एक समय था जब भारतवर्ष के बड़े-बड़े विद्वान् चीन, लंका और तिब्बत आदि देशों में जाकर विद्या और धर्म की शिक्षा देते थे। एक यह समय है कि हमी को अन्यान्य देशों में जाकर विद्योपार्जन करना पड़ता है। विदेशी धर्माचार्य अब हमें यह उपदेश देने आते हैं कि तुम्हारा धर्म निःसार है, हमारे धर्म को स्वीकार करने ही से तुम्हें मुक्ति मिलेगी। खैर, इसका कुछ रंज नहीं, उत्थान और पतन सबके पीछे लगा हुआ है। रंज इस बात का है कि हम अपने पूर्वजों की कीर्ति को, पांडित्य को, पराक्रम को बिलकुल ही भूल गये हैं। उसका स्मरण तक हमें नहीं। हम यह भी नहीं जानते कि चीन ऐसे सभ्य देश के पंडित हमारे पूर्वजों के चरणों पर मस्तक रखने और उनसे विद्या धर्म सीखने आते थे। इन बातों के जानने के कुछ तो साधन कम रह गये हैं, कुछ हम लोगों में उनके जानने की प्रवृत्ति ही कम है। इसी से शीलभद्र ऐसे प्रख्यात पंडित का नाम तक लोग भूल गये थे। चीन से जो प्रवासी इस देश में आये थे उनके ग्रंथों से इस अद्वितीय विद्वान् के विषय में बहुत-सी बातें जानी गई हैं। उनके तथा दो एक बौद्ध ग्रंथों के आधार पर

"डान"-नामक अँगरेज़ी मासिक पुस्तक में शीलभद्र पर
एक लेख प्रकाशित हुआ है। उसे पढ़ने से शीलभद्र का
संक्षिप्त वृत्तांत मालूम हो सकता है।

शीलभद्र छठी शताब्दी में थे। नालंद विश्वविद्यालय
के ये अध्यक्ष थे। भारतवर्ष भर में उस समय कोई भी शास्त्रज्ञ
विद्वान् उनका समकक्ष न था। ये वही शीलभद्र हैं जिनके
पैरों पर प्रसिद्ध चीनी प्रवासी ह्वेनसांग ने अपना मस्तक
रक्खा था। ये पूर्वी बंगाल के रहनेवाले थे। ढाका जिले के
रामपाल-गाँव में इनका जन्म हुआ था। यह गाँव उस समय
समतट-राज्य की राजधानी था। पालवंशी राजाओं के
पहले यहाँ ब्राह्मण-वंशी राजाओं का राज्य था। शीलभद्र
का जन्म राजवंश में हुआ था। यदि राज्याधिकार की
इच्छा से ये अपना देश न छोड़ते तो, बहुत संभव था, उन्हें
राजासन प्राप्त हो जाता। परंतु राज्यप्राप्ति की अपेक्षा
विद्याप्राप्ति ही को उन्होंने श्रेष्ठ समझा। इसका फल यह
हुआ कि बौद्ध धर्म के विस्तृत साम्राज्य के ये सम्राट् हुए।
उस समय नालंद ही बौद्धों का सबसे श्रेष्ठ विद्यालय था।
उसमें १५१० अध्यापक थे और कोई १० हज़ार विद्यार्थी
विद्याध्ययन करते थे। इन सब अध्यापकों के अध्यक्ष
शीलभद्र थे।

जिस पद पर शीलभद्र अधिष्ठित थे उस पद पर उनके पहले
कितने ही नामी-नामी पंडित और महात्मा अधिष्ठित रह

चुके थे। बौद्धों की माध्यमिक शाखा के आचार्य नागार्जुन इसी विश्वविद्यालय के आचार्य थे। यहीं उन्होंने बौद्ध धर्म के अनुयायियों को इस नई शाखा के सिद्धांतों का उपदेश किया था। महापंडित नागसेन ने यहीं से अपने उपदेशों के द्वारा ग्रीक नरेश मीनेन्ड्रो सी की शंकाओं का समाधान करके उसके हृदयांधकार का नाश किया था। इसी विश्वविद्यालय के आचार्य-पद को सुशोभित करनेवाले गुणमति बोधिसत्व ने सांख्य-दर्शन का खंडन बड़ी ही निर्दयता से करके बौद्ध मत की प्रकृष्टता सिद्ध की थी। इसी विश्वविद्यालय की बदौलत प्रभामित्र नाम पंडित ने चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार किया था। इस नालंद-विश्वविद्यालय के जिनमित्र नामक पंडित को तिब्बत नरेश ने अपने देश में बुलाकर बौद्ध धर्म के सिद्धांतों का ज्ञान प्राप्त किया था। चन्द्रपाल, स्थिरमति, ज्ञानचंद्र और शीघ्रबुद्ध आदि पांडित्य-व्योम मंडल के चमकते हुए तारे यहीं उदित हुए थे।

शीलभद्र का आदि नाम दंतदेव था। लड़कपन ही से वे विलक्षण प्रतिभाशाली और तीक्ष्ण-बुद्धि थे। सोलह ही वर्ष की उम्र में उन्होंने वेद, सांख्य, न्याय और वैद्यक-शास्त्र में पारदर्शिता प्राप्त कर ली। पर इतने ही से शीलभद्र को संतोष न हुआ। विद्यापरिशीलन विषयक उनकी पिपासा न बुझी। उस समय नालंद का विद्यालय भारतवर्ष में अपना द्वितीय न रखता था। आप वहीं पधारे। इतनी छोटी उम्र

में ढाका छोड़कर आप मगध आये। उस समय महापंडित धर्मपाल नालंदा के विद्वद्रत्न थे। वही वहाँ के सब से श्रेष्ठ आचार्य थे। शीलभद्र के बुद्धिप्राचुर्य ने उनको मोहित कर लिया। थोड़े ही समय में शीलभद्र ने अपने विद्यागुरु के विद्या भांडार को ग्रहण करके अपने हृदय, कंठ और जिह्वा के अर्पण कर दिया।

इसके कुछ समय बाद दक्षिण से एक पंडितराज मगध नरेश की सभा में आये। उन्होंने आचार्य धर्मपाल को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा। धर्मपाल सभा में बुलाये गये, पर इन्होंने गुरु को शास्त्रार्थ करने जाने से रोका। मेरे रहते मेरे गुरु से शास्त्रार्थ! पहले यह पंडित मुझे परास्त कर ले, तब मेरे गुरुदेव का मुकाबला करे। अन्यथा यह नहीं हो सकता। धर्मपाल अपने सच्छिष्य की योग्यता से अच्छी तरह परिचित थे। उन्होंने कहा—

"सिद्धिरस्तु" — "गम्यतां वत्स"।

इस आदेश से सभी आश्चर्यचकित हुए। भला यह बालक अल्पवयस्क दुबला दक्षिणी ब्राह्मण पंडित का कैसे मुकाबला कर सकेगा! कहीं यह आचार्य का मान न घटावे! इस तरह की शंकाओं का उत्थान करके उन्होंने आचार्य की आज्ञा का प्रतिवाद किया। पर आचार्य धर्मपाल ने सबका समाधान कर दिया। शीलभद्र मगधराज के दरबार में अपना पांडित्य दिखाने के लिए रवाना हुए। साथ

से पीड़ित थे। बोधिसत्वों ने उन्हें बौद्ध धर्म का प्रचार करने और उस धर्म में दृढ़ विश्वास रखने का उपदेश दिया। इसके बाद वे अदृश्य हो गये। शीलभद्र का रोग भी जाता रहा। बोधिसत्वों ने चीन से आनेवाले प्रवासी ह्वेनसांग को बौद्ध धर्म का मर्म सिखलाने की भी आज्ञा दी।

इसके तीन वर्ष बाद ह्वेनसांग वज्रासन तीर्थ (बुद्ध-गया) में पहुँचा। यह खबर सुनते ही शीलभद्र ने ४ "श्रमण" उसे लेने भेजे। ह्वेनसांग ने इस आमंत्रण को बड़े भक्तिभाव से स्वीकार किया। तीर्थाटन करते हुए वह नालंद पहुँचा। २०० श्रमणों ने नालंद के विश्वविद्यालय के फाटक पर आकर उसकी अगवानी की। एक सहस्र बौद्धों ने स्तुति पाठ किया। बड़े समारोह से ह्वेनसांग विश्वविद्यालय में लाया गया। जब वह सभामंडप में पहुँचा तब उसे एक श्रेष्ठ आसन दिया गया। वहाँ के प्रधान भिक्षु ने आज्ञा दी कि जब तक ह्वेनसांग वहाँ रहे उसका वही आदर किया जाय जो एक भिक्षु या उपाध्याय का करना चाहिए। कुछ देर विश्राम करने के बाद २० अध्यापकों ने ह्वेनसांग को शीलभद्र के सम्मुख उपस्थित किया। उस समय शीलभद्र की उम्र १०६ वर्ष की थी। उनके सिर में एक भी बाल न रह गया था। वे बिलकुल खल्वाट हो गये थे। ह्वेनसांग ने दंड-प्रणाम किया और शीलभद्र के पैरों को बड़ी भक्ति

से चूमा। शीलभद्र ने ह्वेनसांग को अपने कर-कमलों से उठाया और आशीर्वाद दिया। ह्वेनसांग उसी दिन से नालंद विश्वविद्यालय का विद्यार्थी हुआ और कई वर्ष वहाँ रहकर बौद्ध आगमों का उसने अध्ययन किया।

अप्रिल १६०८

(६) भास्कर दीक्षित—आत्मपरीक्षा आदि का कर्ता।

राजा रघुनाथ स्वयं संस्कृत और तैलंगी भाषा के अनेक ग्रंथों का कर्ता था। उसके संस्कृत के मुख्य मुख्य ग्रंथ ये हैं—

(१) पारिजात-हरण (२) नलाभ्युदय (३) अच्युताभ्युदय (४) रामायण-सार-सग्रह, (५) महाभारत-सार-सग्रह। इन के सिवा एक रामायण भी उसने तैलगी भाषा में लिखी थी।

राजा रघुनाथ नायक एक दिन अपने दरबार में दरबारी स्त्रियों से घिरा हुआ बैठा था। उनमें से एक ने उसकी रची हुई आंध्र-भाषा की रामायण से कुछ श्लोक गाकर सुनाये। दूसरी ने उसकी राम-भक्ति की प्रशसा की। इससे उसके मन में जो विचार उत्पन्न हुए वे मधुरवाणी के निम्न लिखित श्लोकों में वर्णित हैं—

हरेश्चरित्रं नहु तत्र रामकथासुधा कर्णरसायन न.।
आस्वाद्यमानाऽपि सहस्रवारमयातयामैव सुखस्य दोग्ध्री॥
रसोत्तरं रामकथानुवन्धि का य मया कल्पितमान्ध्रवाण्या।
कार्य कया संस्कृतवाग्भिरेतदित्येवचित्ते गणयन्निवासीत्॥

भावार्थ—रामचरित हजार बार सुनने से भी तृप्ति नहीं होती। मैंने आंध्र-भाषा में राम का जो चरित गान किया है उसे कौन स्त्री सस्कृत में लिख सकती है।

यही सोचते हुए राजा दरबार से उठ गया। उसी रात को भगवान् रामचंद्र ने स्वप्न में दर्शन देकर उससे कहा—

"चिंता मत कर। तेरी इस इच्छा को मधुरवाणी पूर्ण करेगी"। दूसरे दिन रघुनाथ भूप ने मधुरवाणी को स्वरचित रामायण का संस्कृतानुवाद करने की आज्ञा दी। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि मधुरवाणी ने अपने संरक्षक की आज्ञा का पालन बड़ी ही योग्यता से किया।

इस काव्य में १४ सर्ग और १५०० श्लोक हैं। प्रथम सर्ग के पहले अड़तीस श्लोकों में अनेक देवी-देवताओं की स्तुति और प्रार्थना है। अगले ४ श्लोकों में (३९—४२ में) वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, बाण और माघ आदि प्राचीन कवियों की प्रशंसा है। इसके आगे के दो श्लोकों में (४३—४४ में) दुःशील आधुनिक कवियों की निंदा है। निम्नलिखित पैंतालीसवें श्लोक में उसने सुवर्णिता की उत्तम अलंकार विभूषित सौंदर्यशालिनी सुदती से की है—

[illegible] संशोभिता [illegible]।
कस्तूरिका[illegible] सुदतीव [illegible]॥

इसके बाद राजा रघुनाथ के ऐश्वर्य और उसके दरबार की शोभा का विस्तारपूर्वक और विशद वर्णन है। तत्पश्चात् काव्य लिखने का कारण, जैसा कि ऊपर बयान किया गया है, लिखकर मधुरवाणी ने अपने मधुर काव्य का प्रथम सर्ग समाप्त किया है।

इसके आगे रामायण की आख्यायिका प्रारंभ होती है। दूसरे, तीसरे और चौथे सर्ग में दशरथ और उनके यज्ञ का वर्णन है। पाँचवें और छठे सर्ग में रामजन्म और उनकी बाल्य-लीला है। विश्वामित्र का आगमन, यज्ञ-रक्षा, ताड़का वध, अहल्या उद्धार, धनुष-भंग, विवाह और परशुराम संवाद का वर्णन सातवें और आठवें सर्ग में है। अगले ६ सर्गों में वनवास, सीता-हरण, राम और सुग्रीव की मित्रता, वालि-वध और सीता की खोज आदि के संबंध की समस्त कथायें हैं। यहाँ तक की कथा ११५ पन्नों में पूरी हुई है। आगे के पन्ने नहीं मिलते। पर, आगे, तीन फुटकर (१२६, १२६, १४०) पन्नों को देखने से मालूम होता है कि कथा अधूरी नहीं छोड़ी गई।

मधुरवाणी ने इस ग्रंथ में अपनी काव्यमधुरता का अच्छा परिचय दिया है। वास्तव में उसका असली नाम यह न था। यह तो केवल गुण विशिष्ट उपनाम मात्र था, जैसा निम्न-लिखित श्लोक से मालूम होता है—

चतुरमधुरवाणीं सम्यगाकर्ण्य यस्या-
स्सदसि मधुरवाणी नाम दत्तं त्वयैव।
सरसकृतिविधाया साधुमेधाविशेषा-
स्त्वधिकपटुरशेषास्वम्बुजाक्षीषु सैषा॥

यह उपनाम उसे राजा रघुनाथ का दिया हुआ था। वह कैसी विदुषी और कला-कुशल थी, और उसकी

कवित्व शक्ति कितनी बढ़ी-चढ़ी थी, यह उसी के मनोहर शब्दों में हम, यहाँ पर, लिखते हैं—

चातुर्यमेति कवितासु चतुर्विधासु
वीणाकलाप्रकटने भवति प्रवीणा।
प्रज्ञामिव निपुणमप्रति पाणिनीये
मेधां व्यनक्ति बहुधा विविधावधाने॥

तस्याश्चघटिकार्धनिर्मितशतश्लोकी फणिप्रामणी—

वाणीप्राकृतशास्त्रनैपुणमुन्मीलयन्त्यौ श्रीजुषा ।
वीणावादकलाविनोदसमये श्रुत्वा समभ्यागतं
सद्यस्तत्सदृ साधु पूरयति या दत्ता कवीन्द्रैस्तया॥

मधुरवाणी वीणा बजाने में अत्यंत प्रवीणा थी। संस्कृत और तेलगी भाषा में कविता करने की उसे अद्भुत शक्ति प्राप्त थी। वह आशुकवि थी, आधी घड़ी में १०० श्लोक बना सकती थी। अर्थात् एक मिनट में ८ श्लोक से भी अधिक। यह क्या कुछ कम प्रशंसा की बात है, विशेष कर अबला जाति के लिए! केवल इतना ही नहीं किंतु आयुध-विद्या—अश्वारोहण आदि—में भी वह खूब सिद्धहस्ता थी। वैद्यक शास्त्र और धर्म-शास्त्र के [illegible] विषयों पर उसने कई ग्रन्थ भी लिखे हैं। यदि इस विषय में कुछ अतिशयोक्ति भी मान ली जाय तो भी कोई निष्पक्षपात मनुष्य मधुरवाणी के चारु माधुर्य, विलक्षण बुद्धि, कवित्व शक्ति और विद्वत्ता की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकता।

यद्यपि कवि ने अपनीही और अपने संरक्षक की प्रशंसा के ढेर के ढेर लगा दिये हैं, तथापि अपने माता पिता और निवास-स्थान का कुछ भी हाल नहीं लिखा। अतएव हम उसका विशेष वृत्तांत जानने में असमर्थ हैं। हम इतना ही जानते हैं कि उसने एक विद्वान् घराने में जन्म लिया था। उसके ग्रंथ से इतना और भी पता लगता है कि वह अद्वैत मत की अनुयायिनी थी।

इस काव्य की हस्त-लिखित पुस्तक तैलगी लिपि में है। ऐसा जान पड़ता है कि वह स्वयं मधुरवाणी के हाथ की लिखी हुई है, क्योंकि उसमें जो संशोधन किये गये हैं वे पुस्तक के मूल लेखक ही के हाथ के मालूम होते हैं। पुस्तक माइसोर-प्रांत में पाई गई है। नायक-राजाओं के समय में तंजोर और माइसोर में घनिष्ठ संबंध था। इन सब बातों से सिद्ध होता है कि मधुरवाणी माइसोर प्रांत ही की रहनेवाली थी। खैर, जो हो, इसमें संदेह नहीं कि वह नारी रत्न थी। वह अपने समय की शिक्षिता स्त्रियों में शिरोमणि थी। मालूम होता है कि उस समय स्त्री-शिक्षा उन्नतावस्था में थी। उस तरफ़ विदुषी और कला कुशल स्त्रियों की कमी न थी। अकेले रघुनाथ नायक ही के दरबार में अनेक विद्याओं और कलाओं में निपुण कितनी ही स्त्रियाँ विद्यमान थीं। यह बात आगे लिखे श्लोकों से मालूम होती है—

विपञ्चिकायां चतुरा प्रगल्भा शास्त्रेऽतिदक्षास्सरसप्रबन्धे ।
समीपमेतस्य समेत्य केऽपि सुभ्रूजना स्वस्वकला व्यतृण्वन् ॥
सर्वोत्तरस्यादिमसम्भृतान्ध्रप्रबन्धनिर्माणपवेलिमानि ।
यशांसि भूयांस्यवतारयन्त्यस्मद्धनश्शम्भवति सरोजनेत्रा ॥

भारतवर्ष के लिए यह कुछ कम गौरव की बात नहीं कि अभी तीन ही सौ वर्ष पूर्व यहाँ काव्य रचने की शक्ति रखनेवाली अनेक विदुषी स्त्रियाँ जन्म लेती थीं। क्या भारत अपने प्राचीन गौरव को फिर कभी प्राप्त करेगा?

जुलाई १९०८

---

(९) शंभुनाथ मिश्र । खजुरिगाँव । १२ मील । खजुरिगाँव के राजा यदुनाथसिंह के कवि और वैस-वंशावली के लेखक ।

(१०) चिरजीव* । लोग कहते हैं कि इन्होंने महाभारत का अनुवाद हिंदी में किया है ।

(११) महानंद वाजपेयी* । इन्होंने बृहन्द्विग्नपुराण का अनुवाद हिंदी में किया है ।

(१२) पंचम । डलमऊ । २० मील ।

(१३) गंगादयालु द्विवेदी । निसगर । २ मील । संस्कृत के अच्छे विद्वान्, हिंदी और संस्कृत दोनों के उत्तम कवि, संगीतशास्त्र के पारदर्शी । इनका शरीर-पात हुए अभी थोड़े ही दिन हुए ।

(१४) गुणाकर त्रिपाठी । कॉथा । २६ मील । संस्कृत और हिंदी दोनों के अच्छे कवि ।

(१५) कालीचरण वाजपेयी । बिगहपुर । १२ मील ।

(१६) मूनू कवि । असोथर । २६ मील । अनेक ग्रंथों के कर्ता, जिनमें से राम-रावण का युद्ध मुख्य है ।

(१७) सुंदर कवि । असनी । १४ मील । रस प्रबोध के कर्ता ।

---

* नंबर १० और ११ बैसवाड़े ही के कवि हैं, परंतु, इसका पता नहीं लगता कि वे कहाँ के निवासी थे ।

(१८) शिवलाल दुबे। डोंड़ियाखेरा। ३ मील। अनेक पुस्तकों के कर्ता, जिनमें से नखसिख और षट्-ऋतु मुख्य हैं।

इनमें से कुछ कवि ठीक बैसवाड़े के नहीं। परन्तु उनका घर बैसवाड़े के बहुत ही पास था। सोलहवें शतक में हुए नरहरि और हरिनाथ भी हमारे यहाँ से, १४ मील दूर, असनी के रहनेवाले थे। प्राचीन समय में इस प्रांत में अनंत कवि हो गये हैं, उन सबका ठीक ठीक पता लगाना अब असंभव-सा है। वर्तमान काल में भी, इस भूभाग में, कई प्रसिद्ध विद्वान और पंडित हुए हैं। संस्कृत के अच्छे विद्वान, हिंदी और संस्कृत में बहुत से ग्रंथ लिखनेवाले, शिक्षा विभाग में एक अच्छे पद का, बहुत दिनों तक, उपभोग करनेवाले, और आगरे के नूरुल् इल्म और उदयपुर के सज्जन कीर्ति सुधाकर के संपादक, पंडित वंशीधर वाजपेयी इसी प्रांत के रहनेवाले थे। इनका मकान [illegible] नामक गाँव में था। यह गाँव हमारे यहाँ से आध ही मील दूर है। बनारस-कालेज के हेडमास्टर, प्रमाणिक कोश आदि के बनानेवाले और अँगरेज़ी के बहुत बड़े विद्वान, पंडित मथुराप्रसाद मिश्र भी इसी तरफ़ के थे। इनका घर [illegible] में था। यह गाँव दौलतपुर से सिर्फ़ दो मील है।

इसी दौलतपुर को सुखदेव मिश्र ने अपने निवास से बहुत काल तक अलंकृत किया। इनको कोई-कोई "शुकदेव" भी लिखते हैं, परंतु यहाँ पर ये सुखदेव ही के नाम से प्रसिद्ध

है और अपनी पुस्तकों में इन्होंने अपना नाम सुखदेव ही लिखा है। इसी से हमने भी इनका यही नाम लिखना उचित समझा। ग्रियर्सन साहब और शिवसिंह सेंगर ने, इनके विषय में, बड़ा गड़बड़ किया है। एक जगह आप इनको "सुखदेव मिसर" लिखते हैं और कंपिला के रहनेवाले बतलाते हैं। दूसरी जगह आप इनका नाम "सुखदेव कवि" लिखते हैं और अंतर्वेद (गंगा-यमुना के बीच का भाग) इनका देश बतलाते हैं। तीसरी जगह आप इनका नाम "सुखदेव मिसर कवि" लिखते हैं और दौलतपुर इनका स्थान बतलाते हैं। ग्रियर्सन साहब ने अपनी पूर्वोक्त पुस्तक विशेष करके शिवसिंह सरोज के आधार पर ही लिखी है। कहीं कहीं तो आपने शिवसिंह के लेख का शाब्दिक अनुवाद तक कर डाला है। इससे शिवसिंह-सरोज में सुखदेव जी के विषय में जो गड़बड़ है वही ग्रियर्सन साहब की पुस्तक में भी है। साहब को शिवसिंह सरोज आदि में जैसा मिला है वैसा ही उन्होंने अपनी पुस्तक में लिख दिया है। ग्रियर्सन साहब ने यह पुस्तक लिखकर हम लोगों पर बहुत उपकार किया है। हम उनके कृतज्ञ हैं और बहुत कृतज्ञ हैं। जहाँ तक कवियों का सही-सही हाल उनको मिला वहाँ तक उन्होंने लिखा। जान-बूझकर उन्होंने लिखने में बेपरवाही नहीं की। परंतु कहीं-कहीं उनके लेख में भ्रम जरूर हो गया है। एक जगह आप लिखते हैं—

"बाबू हरिश्चन्द्र का कविवचनसुधा भी एक सर्वप्रिय ग्रंथ है। उसमें पावस वर्णन के पद्यों का संग्रह है"।

अस्तु। सुखदेवजी की जन्मभूमि, गंगा के किनारे, "कपिलमुनि की बसाई" कपिला-नामक नगरी है। ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण, हिमकर के मिश्र, थे। विवाह उनका कंपिला ही में हुआ। जगन्नाथ और बुलाकीराम दो पुत्र भी उनके वहीं हुए। लड़कपन में उन्होंने मामूली तौर पर संस्कृत का थोड़ा-सा अभ्यास किया। जब वे बड़े हुए और दो पुत्र भी उनके हो चुके तब जो कुछ उन्होंने पढ़ा लिखा था वह उन्हें काफ़ी न मालूम हुआ। उनके हृदय में अधिक विद्योपार्जन की इच्छा उत्पन्न हुई। इसलिए वे बनारस गये। वहाँ पर किसी विद्वान संन्यासी से वे संस्कृत पढ़ने लगे। कुछ काल तक वे बड़े परिश्रम से विद्याध्ययन करने और रात-रात भर अध्ययन में निमग्न रहने लगे। सुनते हैं, वे अपने अध्यापक संन्यासी के ही मकान पर रहते थे। एक बार रात को बहुत देर तक वे अपने पाठ का विचार करते रहे। उनके पास ही वे संन्यासी महात्मा सोते थे। सोते समय किसी किसी का मुँह अकसर खुला जाया करता है। संन्यासीजी का भी मुँह उस रात को अकस्मात् खुल गया और उसके भीतर से निकलती और प्रवेश करती हुई एक विशेष प्रकार की ज्योति सुखदेवजी ने देखी।

उन्होंने उस ज्योति को भक्तिभाव-पूर्वक प्रणाम किया और अपना पाठ याद करके सो रहे।

दूसरे दिन प्रातःकाल जब वे फिर अपना पाठ लेने लगे तब उन्होंने पढ़ते समय बहुत कुछ प्रगल्भता दिखाई और बुद्धिमानी से भरे हुए अनेक प्रश्न करने आरंभ किये। उनका यह बुद्धिप्राखर्य देखकर उनके अध्यापक महात्मा को आश्चर्य हुआ। उन्होंने सुखदेवजी से इस वैलक्षण्य का कारण पूछा। तब उन्होंने रात की बात बतलाई। इस पर संन्यासी ने कहा कि अब आपको पढ़ने में अधिक परिश्रम करने की आवश्यकता नहीं। आपको अब विद्या प्राप्त हो गई समझिए। ग्रंथावलोकन-मात्र आपके लिए अब दरकार है। इस घटना के अनंतर सुखदेवजी अपने उस विद्यागुरु संन्यासी से शीघ्रता पूर्वक ग्रंथावलोकन करने लगे और थोड़े ही दिनों में तंत्र और साहित्यशास्त्र में निष्णात हो गये।

यह बात सुखदेवजी के वंशजों की परंपरा से मालूम होती चली आई है। वे एक सिद्ध पुरुष और महात्मा थे, यह बात उनके अनेक अलौकिक कृत्यों से भी प्रकट होती है। पर इसका निश्चय नहीं किया जा सकता कि यह कब की बात है। न तो सुखदेवजी के जन्म-मरण का समय ही ज्ञात है और न यही ज्ञात है कि कब वे बनारस गये और कितने दिनों तक वहाँ रहे। परंतु जिन राजाओं और तअल्लुक़ेदारों के यहाँ वे रहे उनके समय का विचार करने से

यह सिद्ध होता है कि वे १६७० और १७८४ ईसवी के बीच में विद्यमान थे। इससे उनको हुए कोई डेढ़ सौ वर्ष बीते। यह बात सुखदेवजी के शिष्य रघुनाथ के ग्रंथों से भी स्पष्ट है। शिवसिंह सेंगर, रामविलास-रामायण के कर्ता रघुनाथ को बंदीजन कहते हैं और बैतालपचीसी इत्यादि के कर्ता को त्रिपाठी बतलाते हैं। परंतु, यहाँ लोग कहते हैं कि दोनों एक ही व्यक्ति हैं। यही नहीं, किंतु भगवन्तराय खीची के यहाँ रहनेवाले रघुनाथ भी यही हैं। रामविलास में रघुनाथ लिखते हैं—

वसु-ग्रह मुनि शशधर * वरस सित फागुन को मास।
रघुनाथ कविता दिन कीन्हों रामविलास॥
पाँउ कवि सुखदेव के चरनन ही को प्यार।
निर्मल कविता करन को यहै हमारे ज्ञान॥

फिर बैतालपचीसी में आप कहते हैं—

शर व्योम मुनि जानिहैं संवत्सर † कवि शंभु।
हरि वदन [illegible] अंत के कीन्हीं [illegible] आरंभ॥

इन दोहों से यह सिद्ध होता है कि जो संवत् ऊपर दिये हुए हैं, उन्हीं के [illegible] वर्ष इधर या उधर सुखदेवजी हुए हैं।

विद्याध्ययन समाप्त करके सुखदेवजी कहीं पर [illegible] गये। [illegible] असोथर आये। [illegible]

* संवत् १७०८ † संवत् १७८०

में असोथर एक क़सबा है। वहाँ पर, उस समय, भगवतराय खीची-नामक एक राजा था। वह बड़ा गुणग्राही था। उसी के यहाँ सुखदेवजी रहे। सुखदेवजी के गुणों पर वह राजा इतना लुब्ध हो गया कि उनका शिष्य होकर वह सेवक बन गया। वहाँ सुखदेवजी का बड़ा सम्मान हुआ। ग्राउस साहब ने फतेहपुर गजेटियर के परिशिष्ट में भगवत राय खीची का हाल लिखा है। वह स्वयं कवि था। कई पुस्तकें उसने लिखी थीं। परंतु अब उनका कुछ पता नहीं। भगवंतराय ने बहुत वर्षों तक बादशाह को मालगुज़ारी नहीं दी। वह स्वतंत्र हो गया था और दो एक बार बादशाही फ़ौजों को उसने परास्त भी किया था। परंतु १७६० ईसवी में वह दगा से मारा गया।

सुखदेवजी शाक्त थे। वे तारा के उपासक थे। यंत्र द्वारा उसकी वे विधि पूर्वक पूजा अर्चा किया करते थे। इस प्रकार की पूजा में मद्य-मांस की भी आवश्यकता होती है, अतएव वह सामग्री भी सुखदेवजी को इकट्ठी करनी पड़ती थी। यह बात लोगों ने भगवतराय से कह दी। सुनकर उसे आश्चर्य हुआ। ऐसे विद्वान्, ऐसे पंडित और ऐसे अच्छे कवि की पूजन-सामग्री में मद्य-मांस! उसको इस बात पर विश्वास न हुआ। इसलिए उसने खुद इसकी सत्यता अथवा असत्यता की जाँच करनी चाही। एक दिन, जिस समय उसके आदमियों ने उसे ख़बर दी कि

मिश्रजी विधि-पूर्वक पूजा करने जाते थे उसी समय, वह मिश्रजी के पास आकर उपस्थित हुआ। ऐसे कुसमय में भगवंतराय को आया देख सुखदेवजी के चेहरे पर क्रोध, आश्चर्य और घृणा के चिह्न आविर्भूत हो आये। परन्तु भगवंतराय को उन्होंने आसन दिया और आने का कारण पूछा। उसने कहा कि पूजा के समय सिर्फ आपका दर्शन करने आया हूँ। इस समय पूजन की सामग्री के बीच एक पात्र में मद्य और एक पत्तल में मांस भी ढका हुआ रक्खा था। भगवंतराय के आने के समय सुखदेवजी पूजन में निमग्न थे, परन्तु उसके आने पर उन्होंने पूजा स्थगित कर दी और उसकी तरफ वे मुखातिब हो गये।

कुछ देर तक इधर उधर बातें करने के अनन्तर, भगवंतराय ने वहाँ पर रक्खे हुए सब पदार्थों का नाम पूछना और सुखदेवजी ने उनके नाम बतलाना शुरू किया। क्रम क्रम उस पात्र और पत्तल की बारी आई। वे ढके हुए थे। उनके विषय में भी जब भगवंतराय ने प्रश्न किया तब मिश्रजी के चेहरे में और भी अधिक उद्विग्नता आ गई। परन्तु नाम बतलाने में उन्होंने ज़रा भी संकोच या विलंब नहीं किया। उन्होंने कहा कि पात्र में दूध और पत्तल में गुलाब के फूल हैं। यह कहकर पास ही खड़े हुए सेवक को हुक्म दिया कि इन दोनों के ढक्कन खोल दो। परन्तु वह तो जानता था कि उनमें वे पदार्थ नहीं हैं, इसलिए उसने खोलने में

आनाकानी की। जब दो बार कहने पर भी उसे खोलने का धैर्य न हुआ तब सुखदेवजी ने उस पात्र और पत्तल के ढक्कन को खुद खोल दिया। खोलते ही, उनके कहने के मुताबिक़, उनमें दूध और गुड़हल के फूल देख पड़े। यह करके सुखदेवजी ने फूलों से भरी हुई वह पत्तल तारा के यंत्र के ऊपर ज़ोर से उलट दी और दूध भी उसी पर डाल दिया। फिर आपने पूजन नहीं किया और उसी वक़्त वहाँ से प्रस्थान करने को तैयार हो गये। यह सब लीला देखकर भगवंतराय चकित हो उठा। उसने अनेक प्रकार से क्षमा प्रार्थना की। उसके यहाँ बहुत-से और पंडित तथा कवि थे। उनको भी मध्यस्थ करके उसने अपना अपराध क्षमा कराने की कोशिश की परंतु सब व्यर्थ हुआ। सुखदेवजी उसी दिन वहाँ से चले आये और फिर कभी वहाँ नहीं गये।

दौलतपुर से २ मील दूर, गंगा के किनारे, बक़सर नाम का एक गाँव है। उसके पास ही चंडिका का एक प्राचीन मंदिर है। सुखदेवजी असोथर से रवाना होकर वहीं आये और एक कुटी में विरक्तवत् रहने लगे।

चंडिका के मंदिर से थोड़ी दूर पर डाड़ियाखेरा नामक एक गाँव था। उसमें मर्दनसिंह नामधारी एक नअल्लुक़ेदार थे। उनको राव का ख़िताब था। उस प्रांत में उनकी प्रभुता ख़ूब बढ़ी-चढ़ी थी। बादशाह से इन्होंने कई परगनों की मालगुज़ारी वसूल करने का ठेका

ले लिया था। राव मर्दनसिंह के अन्तिम वंशज राव रामबख्श हुए। उन्होंने, अभाग्यवश, १८५७ ईसवी में, अँगरेज़ों से प्रतिकूलता की और बागी हो गये। इसका फल यह हुआ कि उनकी रियासत अँगरेज़ी गवर्नमेंट के कोपानल में भस्म हो गई, और, अंत में पकड़े जाकर, बक्सर में, उनको फाँसी हुई। इस समय इनकी राजधानी के खँडहरों में गीदड़ों, भेड़ियों और लोमड़ियों आदि अमंगल जानवरों का निष्कंटक राज्य है।

बक्सर में सुखदेवजी की ख्याति प्रतिदिन बढ़ने लगी। बहुत आदमी उनके शिष्य हो गये। उनकी प्रशंसा और पंडिताई जब राव मर्दनसिंह ने सुनी तब उनको भी उनसे मिलने की उत्कंठा हुई। मिलकर वे इतने प्रसन्न हुए कि वे भी उनके शिष्य हो गये। यहाँ भी परीक्षा ने इनका पिंड न छोड़ा। कहते हैं, उनकी कुटी में नागी नाम की एक युवा स्त्री रहती थी। वह सुखदेवजी की सदा सेवा और परिचर्या करती थी। किसी किसी का कहना है कि यह उनकी शिष्या थी, परंतु किसी किसी का मत है कि वह कुमारिका थी—उसका विवाह न हुआ था। इस बात के कारण मिश्रजी के विरुद्ध लोग नाना प्रकार की बुराइयाँ करने लगे, उन्होंने उनका दुश्चरित्र फैलाना आरंभ किया। जब यह संवाद राव मर्दनसिंह के कान तक पहुँचा तब उनको बहुत रंज हुआ। उन्होंने सब बातें अच्छी

देखने का इरादा किया। लोगों के प्रवाद पर उनको विश्वास न हुआ। अतएव एक दिन वे स्वयं सुखदेवजी की कुटी में आये। सुखदेवजी महात्मा थे; उन्होंने अंतर्ज्ञान से मर्दनसिंह के आने का कारण जान लिया। अतएव, जहाँ राव मर्दनसिंह उनकी कुटी के प्रांगण में आए तहाँ उन्होंने कहा—"साही, राव साहब के लिए आसन ले-आ"। यह कहते ही वह सुस्वरूपा स्त्री कुटी के भीतर से आसन लेकर निकली। यथास्थान उसने आसन बिछा दिया। बिछाकर वह राव के सामने ही दूसरी ओर बाहर चली गई। आसन बिछ जाने और मर्दनसिंह के बैठ जाने पर, फिर सुखदेवजी ने साही को पुकारा और जल लाने की आज्ञा दी। पूर्ववत् फिर एक वैसी ही साही कुटी से निकली। उसने जल दिया और वह भी बाहर चली गई। सुखदेवजी की आज्ञा के अनुसार तीसरी साही पान लाई चौथी पुष्पमाला लाई, पाँचवीं कुछ और लाई। इस प्रकार दस पाँच साही उस कुटी के भीतर से निकलीं और अपना अपना काम करके बाहर चली गईं। यह लीला देखकर राव मर्दनसिंह हैरान हो उठे, आतंक और भक्तिभाव से उनकी अजब हालत हो गई। उन्होंने सुखदेवजी को बार-बार सप्रेम और सभय प्रणाम किया और अपनी अविवेकता पर खेद प्रकट किया। राव मर्दनसिंह की इस कारवाई से मिश्र महाराज के पूजन पाठ में कोई व्यतिक्रम या विघ्न तो

आया न था, इसलिए उन्होंने राव पर कोप प्रदर्शन न करके उनके कृतापराध को क्षमा कर दिया। तब से राव मर्दनसिंह उनकी बहुत ही इज्जत करने लगे। उनके लिए एक स्थान उन्होंने अपनी राजधानी में बनवा दिया। वहाँ सुखदेवजी रहने और पूजा पाठ तथा काव्यालाप में अपने समय का सदुपयोग करने लगे।

डौंडियाखेरा में कवियों का बड़ा आदर था। यहाँ राजाश्रय में रहकर तीर्थराज-नामक एक कवि ने संस्कृत-समरसार का हिंदी अनुवाद किया। यह ज्योतिष का ग्रंथ है, इसमें युद्ध विषय है। सुखदेवजी के शिष्य शंभुनाथ त्रिपाठी भी बहुत दिनों तक डौंडियाखेरा में रहे थे। उन्होंने बैताल-पंचविंशतिका का भाषांतर हिंदी-गद्य में किया और मुहूर्तचिंतामणि का हिंदी पद्य में। उन्होंने रामविलास-नामक एक रामायण की भी रचना की। साहित्य शास्त्र में सुखदेवजी के जितने शिष्य थे उन सबमें शंभुनाथ और नरहरि ही प्रसिद्ध हुए। शंभुनाथ डौंडियाखेरा में अचलसिंह के आश्रय में और नरहरि कवि [illegible] में महाराज [illegible] के आश्रय में बहुत दिनों तक रहे।

धीरे धीरे सुखदेवजी की प्रसिद्धि दूर-दूर तक फैल गई। दूर दूर से लोग उनसे पढ़ने के लिए आने लगे। इनके शिष्यों की भी संख्या बढ़ती गई। उनकी कवित्वपूर्ण का

प्रकाश जब अमेठी के राजा हिम्मतसिंह की राजधानी में पहुँचा तब हिम्मतसिंह को भी उनके दर्शनों की उत्कंठा हुई। सुखदेवजी अमेठी गये। वहाँ भी उनका खूब सम्मान हुआ। तब से वे कुछ दिन डौंड़ियाखेरा और कुछ दिन अमेठी में रहने लगे। जो राजा या तअल्लुकेदार इनसे मिलता वह इनका शिष्य हुए बिना न रहता। हिम्मतसिंह ने भी इनसे गुरुदीक्षा ली।

जिस समय सुखदेवजी अमेठी में थे, एक ब्राह्मण का लड़का मर गया। उस ब्राह्मण ने सुखदेवजी का माहात्म्य सुना था। इसलिए लड़के का निर्जीव शरीर लाकर सुखदेव जी के स्थान के सामने रख दिया और अंत को उस शरीर को वहीं छोड़ वह अपने घर चला आया। सुखदेवजी बड़े संकट में पड़े। बहुत सोच-विचार के अनंतर उन्होंने देवी की स्तुति आरंभ की, जिसका अंतिम पद्य यह था—

ज्ञान तुही और लज्जा तुही
तुही लक्ष्मी है सीतले मेरी गुसाइनि।
आपनो कै मोहिं जानती हो
मैं सदा ही पगे रहौं तेरे ही पायनि॥
जाहि निवाजै निहाल ह्वै जाइ सो
जानत हौं सब तेरे सुभाइनि।
तेरो भिखारी हौं भीख दे मोहिं
तू राखि ले बाल बड़ी ठकुराइनि॥

सुनते हैं, इसके समाप्त होने ही उस बालक के शरीर में प्राण-संचार हो आया।

एक बार डौंड़ियाखेरा के राव मर्दनसिंह बीमार हुए। बीमारी यहाँ तक बढ़ी कि जीने की आशा न रही। उस समय सुखदेवजी अमेठी में थे। इसलिए वहाँ से उनको लाने के लिए आदमी गये। मिश्रजी आये तो नहीं, परंतु जो लोग उनको बुलाने गये थे उनसे उन्होंने कह दिया कि यद्यपि राव मर्दनसिंह की हालत बहुत बुरी है तथापि वे मरेंगे नहीं। यह कहकर उन्होंने दो संस्कृत-श्लोक और एक हिंदी सवैया उनको दिया। सवैया यह था—

अरि महल फोरि फते करिके
पर-फौजन फारि कै नाखिबे है।
बहु संख्यक छंद प्रबंध बनाय
हमैं जस रावरो भाखिबे है॥
अकुलाने कहा मरदाने अबै
रस औलन ते तुमहूँ चाखिबे है।
रघुनायक राम की नाईं तुम्हें
जग में रहिबे जग राखिबे है॥

कहते हैं कि जब ये पद्य लेकर आदमी डौंड़ियाखेरा आये तब मर्दनसिंह क्रियमाण दशा में गंगा के किनारे पहुँचाये जा चुके थे। सुखदेवजी की आज्ञा थी कि यदि मर्दनसिंह कुछ कहें तो उनको यह कविता सुना दी जाय; यदि केवल

प्रकाश जब अमेठी के राजा हिम्मतसिंह की राजधानी में पहुँचा तब हिम्मतसिंह को भी उनके दर्शनों की उत्कंठा हुई। सुखदेवजी अमेठी गये। वहाँ भी उनका खूब सम्मान हुआ। तब से ये कुछ दिन डौंड़ियाखेरा और कुछ दिन अमेठी में रहने लगे। जो राजा या तअल्लुकेदार इनसे मिलता वह इनका शिष्य हुए बिना न रहता। हिम्मतसिंह ने भी इनसे गुरुदीक्षा ली।

जिस समय सुखदेवजी अमेठी में थे, एक ब्राह्मण का लड़का मर गया। उस ब्राह्मण ने सुखदेवजी का माहात्म्य सुना था। इसलिए लड़के का निर्जीव शरीर लाकर सुखदेव जी के स्थान के सामने रख दिया और अंत को उस शरीर को वहीं छोड़ वह अपने घर चला आया। सुखदेवजी बड़े संकट में पड़े। बहुत सोच-विचार के अनंतर उन्होंने देवी की स्तुति आरंभ की, जिसका अंतिम पद्य यह था—

आन तुही और लज्जा तुही
तुही लक्ष्मी है सीतले मेरी गुसाइनि।
आपनो कै मोहिं जानती हौ
मैं सदा ही परो रहौं तेरे ही पायनि॥
जाहि निवाजै निहाल ह्वै जाइ सो
जानत हौं सब तेरे सुभाइनि।
तेरो भिखारी हौं भीख दे मोहिं
तू राखि ले बाल बड़ी ठकुराइनि॥

सुनते हैं, इसके समाप्त होते ही उस बालक के शरीर में प्राण-संचार हो आया।

एक बार डौंडियाखेरा के राव मर्दनसिंह बीमार हुए। बीमारी यहाँ तक बढ़ी कि जीने की आशा न रही। उस समय सुखदेवजी अमेठी में थे। इसलिए वहाँ से उनको लाने के लिए आदमी गये। मिश्रजी आये तो नहीं, परंतु जो लोग उनको बुलाने गये थे उनसे उन्होंने कह दिया कि यद्यपि राव मर्दनसिंह की हालत बहुत बुरी है तथापि वे मरेंगे नहीं। यह कहकर उन्होंने दो संस्कृत श्लोक और एक हिंदी सवैया उनको दिया। सवैया यह था—

अरि-मंडल फोरि फतै करिकै
पर-काजन कारि के नाखिये है।
बहु सायक छंद प्रबंध बनाय
हमैं जस रावरो भाखिये है॥
अकुलाने कहा मरदाने हवै
रस धीरज ते तुम चाखिये है।
रघुनायक राम की नाईं तुम्हैं
जग में रहिबे जस राखिबे है॥

कहते हैं कि जब ये पत्र लेकर आदमी डौंडियाखेरा आये मर्दनसिंह म्रियमाण दशा में गंगा के किनारे पहुँचाए गये थे। सुखदेवजी की आज्ञा थी कि यदि मर्दनसिंह कहें तो उनको यह कविता सुना दी जाय, यदि ऐसा

सकें तो दिखा दी जाय, और यदि यह भी न कर सकें तो गंगाजल में घोलकर पिला दी जाय। सुनने और देखने की शक्ति क्षीण हो जाने से, यह कविता जल से धोकर, किसी तरह उनको पिला दी गई, कविता का कागज़ गंगाजल में घोलकर वही जल उनके मुँह में डाल दिया गया। कहा जाता है कि इसके थोड़ी ही देर बाद राव मर्दन सिंह ने आँखें खोल दीं और वे, क्रम-क्रम से, नीरोग हो गये।

जिस मर्दनसिंह के ऊपर सुखदेवजी की इतनी कृपा थी उसका परित्याग आपने एक ज़रा सी बात पर कर दिया। महात्माओं की सभी बातें विलक्षण होती हैं। एक दफ़े आप अमेठी से डौंड़ियाखेरा वापस आये। वहाँ आकर देखते हैं तो मौरावाँ निवासी निशाकर नामक एक पंडित इनके स्थान में ठहरे हुए हैं। इनके आते ही राव के आदमी इनके ठहराने और सेवा शुश्रूषा में लग गये। परंतु एक पंडित और इज़्ज़तदार आदमी को, जो भूल से मिश्रजी के स्थान पर ठहरा दिये गये थे, निकाल देना उचित न समझा गया। इसलिए मिश्रजी से प्रार्थना की गई कि आप तब तक अपने से भी अच्छे एक अन्य स्थान पर ठहरें। परंतु अपने स्थान पर दूसरे का ठहराया जाना सुखदेव महाराज को सहन न हुआ। उन्होंने किसी की विनती और किसी की प्रार्थना न मानी। जो लोग उनको सांत्वना करने आये थे, उनसे

आपने केवल इतना ही कहा कि अब यहाँ निशाकर रहने लगे हैं तो निशाचर भी रहेंगे। आपने कुपित होकर यह भी कहा कि हम क्या हमारे वंश का कोई भी आदमी अब यहाँ न आवेगा। सुखदेवजी की वाणी सत्य निकली। अब डौंड़ियाखेरा में सचमुच ही निशाचर रहते हैं। उनके वंशजों में से केवल एक सुजान नामक मिश्र कुछ काल तक डौंड़ियाखेरा के राव के आश्रय में रहे। परन्तु उनके कुटुंब का समूल नाश हो गया। यह शायद सुखदेवजी के आज्ञोल्लंघन का ही फल हो।

डौंड़ियाखेरा छोड़कर सुखदेवजी फिर दौलतपुर आ गये और यहाँ पर अपनी पुरानी कुटी में रहने लगे। यद्यपि राव मर्दनसिंह ने बहुत मनाया और फिर उन्हें वहाँ ले जाने की बहुत कोशिश की, परन्तु आप किसी तरह जाने पर राजी न हुए। इन घटनाओं से सुखदेवजी को हिन्दू-राजाओं से कुछ घृणा-सी हो गई। परंतु राज-सभाओं में बैठने और काव्या-लाप करने का आपको चसका-सा लग गया था। इससे आपने फिर राजाश्रय लेना चाहा। इस बार आपने हिंदू छोड़ मुसल्मान के यहाँ रहना उचित समझा। अतएव अपनी काव्य-कला और अलौकिक करामातों से औरंगज़ेब के मंत्री नवाब फाजिलअलीखाँ को प्रसन्न करके आप उनके यहाँ रहने लगे। एक दिन दरबार में आप बैठे थे कि बाहर नक्कारे की आवाज़ सुनाई दी। इस पर फाजिलअलीखाँ ने

पूछा—"पंडितजी यह क्या कह रहा है"? आपने तत्काल उत्तर दिया—

द्वार दमामे ना बजत कहत पुकार-पुकार।
हरि न भजे ते पशु भये परत चाम पर मार॥

इसे सुनकर नव्वाब बहुत खुश हुआ।

दौलतपुर से पाँच मील पर मुरारिमऊ-नामक एक अच्छी रियासत है। इसके तअल्लुकेदार राजा कहलाते हैं। बैसों में अकेले इन्हीं को, इस तरफ़, राजा की पदवी प्राप्त है। जब तक ये अपने अँगूठे से तिलक नहीं करते तब तक दूसरे तअल्लुकेदारों या राजाओं का तिलकोत्सव सिद्ध नहीं माना जाता। विद्रोह के वक़्त यहाँ के तत्कालीन राजा ने अँगरेजों की बहुत ख़ैरख़्वाही की। इस उपलक्ष्य में उनको बहुत-सा इलाक़ा भी मिला। सुखदेवजी के समय में वहाँ देवीसिंह-नामक राजा थे। मुरारिमऊ और डौंड़ियाखेरा में बहुत दिनों से विरोध चला आता था। इसलिए राजा देवीसिंह ने अपने विरोधी मर्दनसिंह के कवि को आश्रय देने में अपनी बड़ाई समझी। इसलिए वे मिश्रजी को अपने यहाँ लाये और उनके शिष्य हुए।

सुखदेवजी पर राजा देवीसिंह की भक्ति बढ़ती गई। जब से सुखदेवजी ने कपिला को छोड़ा था तब से उन्होंने अपने स्त्री-पुत्र और कुटुंब से कुछ भी संबंध न रक्खा था। किसी से अपने घर का पता तक उन्होंने न बतलाया था। परंतु

राजा देवीसिंह ने उनको यहाँ तक प्रसन्न किया कि उन्होंने अपने घर का ठीक-ठीक पता बतला दिया। तब से राजा देवीसिंह उनसे अपनी स्त्री और पुत्रों को बुलाने के लिए अनुरोध करने लगे। रगड़ बुरी होती है, जिस बात के पीछे पड़े रहो वह, एक न-एक दिन, सिद्ध हो ही जाती है। सुखदेवजी ने राजा देवीसिंह की प्रार्थना स्वीकार कर ली। तब यह विचार दरपेश हुआ कि आपके लिए मकान कहाँ पर बने। सुखदेवजी गंगा के बड़े भक्त थे। सुनते हैं, एक दिन, आप दौलतपुर के पास गंगा-स्नान के लिए आये। घाट पर आपने स्नान किया और पूजन के अनंतर विष्णु-सहस्रनाम का पाठ आरम्भ किया। पाठ समाप्त न हुआ था कि आप वहाँ से चल दिये और पाठ जारी रक्खा। घाट से कोई तीन फर्लांग पर, दौलतपुर में, आपका पाठ ख़तम हुआ। तब आपने कहा कि हमारे लिए निवास की यही जगह ठीक होगी। बस, फिर क्या था, राजा देवीसिंह ने आपके लिए वहीं पर मकान बनवा दिया और उनके कुटुम्बियों को भी उन्होंने बुलाकर वहीं बसा दिया। सुखदेवजी यद्यपि अपने पुत्र-कलत्र के साथ, वहीं पर, आबाद रह गये, तथापि, सुनते हैं, वे कुटुम्बजन के झंझटों में ज़रा भी लीन नहीं हुए। गंगा स्नान, भगवद्भजन और शास्त्राभ्यास ही में उनका शेष जीवन व्यतीत हुआ। गंगा की स्तुति में उन्होंने बहुत-सी सुन्दर कविताएँ कही हैं।

सुखदेवजी को कई जगह बड़ी-बड़ी जागीरें मिलती थीं, परंतु, उनके वंशजों का कथन है, उन्होंने उनको लेना स्वीकार नहीं किया। वे कहते थे कि हमको किसी प्रकार की संपत्ति अपेक्षित नहीं, जो कुछ दिन-भर में मिलता है उसे शाम तक देवार्पण कर देना ही हम अपनी परिमित प्राप्ति का सदुपयोग समझते हैं। परंतु राजा देवीसिंह ने बहुत कुछ कह-सुनकर दौलतपुर लेने पर उनको राज़ी किया। उन्होंने उसे ख़ुद तो लिया नहीं, अपने लड़कों को दिला दिया। बहुत दिनों तक सुखदेवजी के वंशजों का अधिकार इस गाँव पर रहा, परंतु, बाद में, कई कारणों से, वह उनके हाथ से निकल गया। इस गाँव के पास, गंगा के किनारे, एक पक्का घाट है और कई शिवालय भी हैं। कुटीर भी कई बने हुए हैं, जहाँ कभी-कभी साधु-संन्यासी आकर ठहरा करते हैं।

दौलतपुर में भी सुखदेवजी की सिद्धि की एक-दो परीक्षायें हुईं। उनसे मिलने और उनके दर्शन करने के लिए लोग दूर दूर से आते थे, यह बात प्रसिद्ध है। सुनते हैं, एक बार, गंगातट पर, जल के बिलकुल सन्निकट, वे पूजा कर रहे थे। इतने में एक महात्मा उनसे मिलने आये। कुछ देर तक वार्तालाप के अनंतर उन्होंने सुखदेवजी के हाथ में एक गुटिका दी और कहा कि यह बड़े काम की चीज़ है। इसे मैंने बड़े परिश्रम से पाया है। इसमें यह गुण है कि इसे

गुन में रखने से अनेक अलौकिक काम करने की शक्ति आ जाती है। यह सुनकर मिश्रजी ने कहा—"बस, इसमें इतना ही गुण है!" यह कहकर उन्होंने उसे गंगा में फेंक दिया। इस पर वह आगंतुक बहुत कुपित हुआ और इनको बुरा भला कहने लगा। यह देखकर सुखदेवजी ने अपने दोनों हाथों की अंजली बनाकर चुपचाप गंगा के भीतर डाली और उसमें भरी हुई वैसी ही कोई बीस-पचीस गुटिकायें निकालीं। तब उस महात्मा से आपने कहा कि इनमें से आपकी जो गुटिका हो उसे आप पहचानकर ले लें। यह अघटित घटना देखकर वह आगंतुक अवाक् हो रहा और सुखदेवजी की स्तुति करता हुआ मार्गस्थ हुआ।

एक और भी इसी तरह की घटना एक बार हुई। इस बार भी वे पूजा कर रहे थे कि एक विद्वान् उनसे मिलने आये और उनके देवसिंहासन का मुख, बिना हाथ लगाये, अपनी तरफ़ फेर दिया। परंतु ज्यों ही यह बात सुखदेवजी के ध्यान में आई त्यों ही वह सिंहासन, आपही आप, फिर पूर्ववत् उनकी तरफ़ हो गया। ये बातें यहाँ के वृद्ध मनुष्य परम्परा से सुनते चले आते हैं।

जिस तरह सुखदेवजी के जन्म-स्थान का पता नहीं लगता उसी तरह उनके मृत्यु-स्थान का भी नहीं लगता। यह शंका की बात है। परंतु यह निश्चित है कि उनका शरीर पात यहीं उनके गाँव में हुआ।

सुखदेवजी के चार ग्रंथ प्रसिद्ध हैं—रसार्णव, वृत्त-विचार पिंगल, शृंगारलता और फाजिल-अली-प्रकाश। डोंडिया खेरा के राव मर्दनसिंह के लिए उन्होंने रसार्णव बनाया, अमेठी के राजा हिम्मतसिंह के लिए वृत्त-विचार-पिंगल बनाया; मुरारिमऊ के राजा देवीसिंह के लिए शृंगारलता बनाई, और नव्वाब फाजिल-अलीखाँ के लिए फाजिल अली प्रकाश बनाया। रसार्णव में नायिका भेद है, वृत्त विचार में वृत्तों के लक्षण और उदाहरण हैं, और फाजिल अली-प्रकाश में साहित्य के सब अंगों—काव्य के गुण-दोष, लक्षणा, व्यंजना और अलंकार आदि—का वर्णन है। परंतु हम यह नहीं कह सकते कि शृंगारलता में क्या है। न हमने इस पुस्तक को देखा और न यहाँ (दौलतपुर में) इसके विषय से कोई अभिज्ञ मिला।

शिवसिंह के आधार पर ग्रियर्सन साहब कहते हैं कि सुखदेवजी गौड़ में अर्जुनसिंह के बेटे राजा राजसिंह के यहाँ भी थे और वहाँ उनको कविराज की पदवी मिली थी। वे और शिवसिंह यह भी कहते हैं कि गौड़ में उन्होंने वृत्तविचार नामक छंदोविषयक एक ग्रंथ बनाया, जो हिंदी के छंदोग्रंथों में सबसे अच्छा समझा जाता है। परंतु सुखदेवजी के वंशजों को इस बात की बिलकुल खबर नहीं। वे कहते हैं कि सुखदेवजी कभी गौड़ नहीं गये और वृत्त विचार पिंगल उन्होंने गौड़ में नहीं बनाया। उसे उन्होंने

अमेठी में हिम्मतसिंह के लिए बनाया। उसके आरंभ में उन्होंने हिम्मतसिंह को आशीर्वाद कहा है, यथा—

"सुखदेव सदाशिव सुदिन मन हिम्मतसिंह नरिंद कहँ।"

कविराज की पदवी भी गौड़ से उन्हें नहीं मिली। वे अपने फ़ाज़िल अली-प्रकाश में लिखते हैं—

अलहयारखाँ भुजबली सुमति सूर सिरताज।
जिन्ह दियो कविराज पद बड़ो गरीब निवाज॥

इससे साफ़ ज़ाहिर है कि कविराज की पदवी इनको अलहयारखाँ ने दी थी, गौड़नरेश ने नहीं। सुखदेवजी के बनाये हुए ग्रंथों में ग्रियर्सन और शिवसिंह एक छंद-विचार पिंगल बतलाते हैं। यह शायद किसी दूसरे सुखदेव का बनाया हुआ होगा। वे यह भी लिखते हैं कि सुखदेवजी ने अध्यात्मप्रकाश * और दशरथराय नाम के दो ग्रंथ बनाये हैं, परन्तु इस बात से भी दौलतपुर-निवासी सुखदेव-वंशज मिश्र असहमति प्रकाशित करते हैं। इनका मत है कि ये ग्रंथ भी शायद किसी दूसरे सुखदेव के बनाए हैं। ये पुस्तकें हमारे देखने में नहीं आईं। इससे इस विषय में हम विशेष कुछ नहीं कह सकते। यदि ये देखने को मिलतीं तो, सम्भव था, इस बात का निर्णय हो जाता कि ये किसकी बनाई हुई हैं।

* यह एक छोटा सा ग्रंथ है, और हमने इसको देखा है। यह भी सुखदेवजी की ही रचना है।

सुखदेवजी के चार ग्रंथ प्रसिद्ध हैं—रसार्णव, वृत्त-विचार पिंगल, शृंगारलता और फाजिल अली-प्रकाश। डोंडिया खेरा के राव मर्दनसिंह के लिए उन्होंने रसार्णव बनाया, अमेठी के राजा हिम्मतसिंह के लिए वृत्त विचार-पिंगल बनाया; मुरारिमऊ के राजा देवीसिंह के लिए शृंगारलता बनाई, और नव्वाब फाजिल-अलीख़ाँ के लिए फाजिल अली-प्रकाश बनाया। रसार्णव में नायिका भेद है, वृत्त विचार में वृत्तों के लक्षण और उदाहरण हैं, और फाजिल अली-प्रकाश में साहित्य के सब अंगों—काव्य के गुण-दोष, लक्षणा, व्यंजना और अलंकार आदि—का वर्णन है। परंतु हम यह नहीं कह सकते कि शृंगारलता में क्या है। न हमने इस पुस्तक को देखा और न यहाँ (दौलतपुर में) इसके विषय से कोई अभिज्ञ मिला।

शिवसिंह के आधार पर ग्रियर्सन साहब कहते हैं कि सुखदेवजी गौड़ में अर्जुनसिंह के बेटे राजा राजसिंह के यहाँ भी थे और वहाँ उनको कविराज की पदवी मिली थी। वे और शिवसिंह यह भी कहते हैं कि गौड़ में उन्होंने वृत्तविचार नामक छंदोविषयक एक ग्रंथ बनाया, जो हिंदी के छंदोग्रंथों में सबसे अच्छा समझा जाता है। परंतु सुखदेवजी के वंशजों को इस बात की बिलकुल ख़बर नहीं। वे कहते हैं कि सुखदेवजी कभी गौड़ नहीं गये और वृत्त-विचार पिंगल उन्होंने गौड़ में नहीं बनाया। उसे उन्होंने

अमेठी में हिम्मतसिंह के लिए बनाया। उसके आरंभ में उन्होंने हिम्मतसिंह को आशीर्वाद कहा है, यथा—

"सुखदेव सदाशिव मुदित मन हिम्मतसिंह नरिंद कहँ।"

कविराज की पदवी भी गौड़ से उन्हें नहीं मिली। वे अपने फ़ाजिल अली प्रकाश में लिखते हैं—

अलहयारखाँ भुजबली सुमति सूर सिरताज।
जिन्ह दियो कविराज पद बड़ो गरीब निवाज॥

इससे साफ़ ज़ाहिर है कि कविराज की पदवी इनको अलहयारखाँ ने दी थी, गौड़-नरेश ने नहीं। सुखदेवजी के बनाये हुए ग्रंथों में ग्रियर्सन और शिवसिंह एक छंदो-विचार पिंगल बतलाते हैं। यह शायद किसी दूसरे सुखदेव का बनाया हुआ होगा। वे यह भी लिखते हैं कि सुखदेवजी ने अध्यात्मप्रकाश* और दशरथराय नाम के भी दो ग्रंथ बनाये हैं, परंतु इस बात में भी दौलतपुर-निवासी [illegible] मिश्र [illegible] प्रकाशित करते हैं। उनका मत है कि ये ग्रंथ भी शायद किसी दूसरे सुखदेव के बनाये हैं। ये पुस्तकें हमारे देखने में नहीं आईं। इससे इस विषय में हम विशेष कुछ नहीं कह सकते। यदि ये ग्रंथ देखने को मिलतीं तो [illegible] इस बात का निर्णय हो जाता कि ये किसकी बनाई हुई हैं।

* यह एक छोटा सा ग्रंथ है, जो [illegible] है [illegible]
[illegible] है।

परमपददानी सिद्धि निधि की निसानी
घट-घट में समानी चहूँ वेदन बखानी है।
महिषासुर मारि चंड-मुडहि विदारि
रक्तबीजहि सहारि शुंभ दानवै रिसानी है॥
महा मरदानी गहे कठिन कृपानी कहि
सीतल सयानी तिहूँ लोकन में जानी है।
दादि सुनि लीजै, मेरे नैन करि दीजै,
सुनि पाथर पसीजे तू तो आदि महरानी है॥

यह कविता बुरी नहीं है। "कविराज" के वश में उत्पन्न कवि के सर्वथा अनुरूप है।

अक्टोबर १९०८

हीरविजय सूरि

जैनियों में हीरविजय सूरि नाम के एक बड़े महात्मा और बड़े विद्वान् हो गये हैं। ये अकबर बादशाह के समय में थे। देव-विमल-गणि कृत हीरसौभाग्य-नामक काव्य से उनका बहुत कुछ हाल मालूम हो सकता है। इस काव्य में अकबर, उसकी राज्यव्यवस्था, उसके धार्मिक विचार आदि के संबंध में भी बहुत-सी बातें हैं। जैन पंडितों पर वह कितनी कृपा करता था, उनकी प्रार्थनाओं को वह कहाँ तक मानता था और उनको कितने आदर की दृष्टि से देखता था, इन बातों का भी पता हीरसौभाग्य से लगता है। जगद्गुरु काव्य नाम का एक और भी ग्रंथ संस्कृत में है। उससे भी इन बातों का ज्ञान प्राप्त करने में बड़ी सहायता मिलती है। सभी धर्मों और संप्रदायों के महात्माओं और पंडितों से वार्तालाप करके अकबर अपने धार्मिक ज्ञान की वृद्धि करने के लिए सदैव तत्पर रहता था। सत्यज्ञान और सार चाहे जहाँ से प्राप्त हो सके, उसे प्राप्त करने के लिए वह सदैव सचेत रहता था। इसी कारण वह जैन और हिंदू विद्वानों ही को नहीं [illegible] धर्म के अनुयायियों तक का साक्षात् करने में [illegible]

फ़रमान लेकर अहमदाबाद गये थे उन्हीं के साथ वे फतहपुर के लिए पैदल रवाना हुए। पट्टन, सिद्धपुर, सिरोही, मेड़ता आदि जिन जिन स्थानों में वे पहुँचे सभी कहीं वहाँ के अधिकारियों और प्रतिष्ठित पुरुषों ने उनका यथेष्ट सत्कार किया। जब वे साँगानेर पहुँचे तब अपने शिष्य विमलहर्ष को बादशाह के पास, अपने आगमन की सूचना देने के लिए उन्होंने भेजा। बादशाह ने थानसिंह आदि अपने अफ़सरों को आज्ञा दी कि बड़ी धूमधाम के साथ हीरविजय सूरि की अगवानी की जाय। शाही अफसर और अनेक प्रमुख जैन फ़ौज, रथ, घोड़े और हाथी लेकर साँगानेर पहुँचे। उनके साथ सूरि महाराज फतहपुर आये। वहाँ एक रात जगमल कछवाहे के महल में वे रहे। दूसरे दिन वे शाही दरबार में उपस्थित हुए। परंतु उस समय अकबर एक बहुत आवश्यक और महत्त्व का काम कर रहा था। इस कारण उसने हीर-विजय सूरि की सेवा-शुश्रूषा का काम अबुलफ़ज़्ल को सौंपा।

अबुलफज्ल हीरविजय सूरि को अपने महल में ले गया। वहाँ उसने बड़े ही भक्ति भाव से उन्हें बिठाया। कुछ देर बाद उसने हीरविजय सूरि से धर्म-संबंधिनी बातें पूछीं। उसके प्रश्न का सारांश हीरसौभाग्य के अनुसार नीचे दिया जाता है—

अबुलफज्ल ने कहा—"हमारे क़ुरान में लिखा है कि मरने पर मुसलमान-धर्म के अनुयायियों के शरीर, धरोहर

के तौर पर, पृथ्वी के पेट में रख दिये जाते हैं। प्रलयांत में उन सब शरीरों की आत्मायें अपनी-अपनी क़बरों से निकल-कर खुदा नाम के परमेश्वर के सामने खड़ी होंगी। खुदा उस समय सब के पुण्य पाप का विचार, पक्षपातरहित होकर, करेगा। सबको पुण्य और पाप का फल उस समय वह उसी तरह देगा जिस तरह कि पृथ्वी, उसमें बोये गये बीजों का फल, देती है। कुछ स्वर्ग को भेज दिये जायँगे, जिन्हें नाना प्रकार के भोग—अप्सरादि—प्राप्त होंगे और कुछ नरक को भेजे जायँगे, जहाँ उन्हें अनिर्वचनीय दुःख भोगने पड़ेंगे। हे महात्मा! आप कृपा करके बतलाइए कि कुरान में जो ये बातें लिखी हैं वे सच हैं या केवल आकाश-कुसुम के समान निर्मूल हैं।"*

* पैगम्बरैर्न्ममतेषु सूरे पुराणैर्यदमेयदृष्टि।
निक्षिप्यते न्यास इव क्षमाया [illegible] ॥
खुदाह्वयश्रीपरमेश्वरस्याभ्यर्णे [illegible] ।
तस्मात्पृथ्व्याः [illegible] पुराणम् ॥
[illegible] पुण्यपापे [illegible] ।
[illegible] ॥

कुरानवाक्य किमिदं यथार्थं [illegible] सूरे ।
[illegible] ॥
([illegible], सर्ग ११)

इस प्रश्न को सुनकर हीरविजय सूरि ने पूर्वोक्त सिद्धांत का खंडन कई श्लोकों में करके, अंत में यह कहा कि न तो इस संसार का कोई पैदा ही करनेवाला है और न कोई इसका नाश ही करनेवाला। इसमें ये जो अनेक प्रकार की विभिन्नतायें देख पड़ती हैं उनका कारण प्राणियों ही के प्राक्तन कर्म हैं। अतएव मेरी राय में किसी स्रष्टा का अस्तित्व मानना वंध्या-पुत्र का अस्तित्व मानने के समान है—

कर्ता च हर्ता निजकर्मजन्यवैचित्र्यविश्वस्य न कश्चिदस्ति।
वंध्यात्मजन्मेव तदस्ति भानोऽसन्नेव चित्ते प्रतिभासते तत्॥

यह सुनकर अबुलफज़ल बहुत खुश हुआ—

इदं गदित्वा विरते मुनीन्द्रे शेख: पुनर्वाचमिमामुवाच।
विज्ञायते तद् बहुगर्ह्यवाचि बीबीव तथ्येतरता तदुक्तौ॥

अर्थात्, अबुलफज़ल ने यह कहा कि इस दशा में यही कहना पड़ता है कि हमारी धर्म-पुस्तकों में बहुत-सी तथ्येतर बातें हैं। यहाँ पर यह याद रखना चाहिए कि संसार के कर्तृत्व आदि के संबंध में हीरविजय का बतलाया हुआ सिद्धांत जैन-धर्म के अनुयायियों का सिद्धांत है।

अकबर को काम से फरसत होने पर, सूरि महोदय शाही दरबार में बुलाये गये। वहाँ जाने पर क्या हुआ सो जगद्गुरु-काव्य के प्रणेता के एक श्लोक से अवगत कीजिए—

चगा हो गुरुजीतिवाक्यचतुरो हस्ते निजं तत्करं
कृत्वा सूरिवरान्निनाय सदनान्तर्वस्त्ररुद्धाङ्गणे।

तावच्छ्रीगुरवस्तु पादकमलं नारोपयंस्तत्तदा
वस्त्राणामुपरीति भूमितलिना पृष्ठाः क्षितीन्द्रगुरो ॥

अकबर ने पूछा—"गुरुजी ! चंगे तो हो ?" अकबर की हिंदी का यह नमूना ध्यान में रखने लायक़ है। फिर उनका हाथ पकड़कर अकबर उन्हें महलों के भीतर ले गया और बिछौने पर बिठाना चाहा। पर हीरविजय ने वस्त्रासन पर पैर रखने से इनकार कर दिया। इस पर अकबर को आश्चर्य हुआ और सूरि महोदय से उसने इसका कारण पूछा। जैनशास्त्रों में इस तरह बिछौने पर बैठने की आज्ञा नहीं है—इत्यादि बातें जब अकबर ने सुनीं तब उसे और भी आश्चर्य हुआ। जैन साधु सवारी नहीं रखते, वे सदा पैदल ही चलते हैं। अतएव हीरविजय भी अहमदाबाद से पैदल ही आये हैं, यह सब सुनकर अकबर के आश्चर्य की सीमा न रही। और अतिथि-सत्कार-संबंधिनी बातें हो चुकने पर धर्म-चर्चा छिड़ी। अकबर की आज्ञा पाकर सूरि ने धर्म परमेश्वर और सद्गुरु के लक्षण निरूपित किए। इसके सिवा और भी अनेक बातें उन्होंने कहीं। हीरविजय की गुणिता, निःस्पृहता और विद्वत्ता आदि देखकर अकबर बहुत प्रसन्न हुआ। अकबर ने उन्हें बहुत सी धर्मविषयक पुस्तकें भेंट दीं। पहले तो सूरि महाराज ने उन्हें लेने से इनकार किया। परन्तु अबुलफ़ज़ल के बहुत कहने पर उन्होंने ले लिया और कुछ दिन बाद आगरे के पुस्तकालय को दे दिया।

अकवर के इस फरमान का अनुवाद भी मालकम साहब ने अपनी पुस्तक में दिया है। उसे हम ज्यों का त्यों नीचे प्रकाशित करते हैं—

"IN THE NAME OF GOD GOD IS GREAT

"Firman of the Emperor Jalalodeen Mahomed Akbar Shah, Padsha, Ghazee

"BE it known to the Moottasuddies of Malwa, that as the whole of our desires consist in the performance of good actions, and our virtuous intentions are constantly directed to one object, that of delighting and gaining the hearts of our subjects, etc

"We, on hearing mention made of persons of any religion or faith, whatever, who pass their lives in sanctity, employ their time in spiritual devotion and are alone intent on the contemplation of the Deity, shut our eyes on the external forms of their worship, and considering only the intention of their hearts, we feel a powerful inclination to admit them to our association,

from a wish to do what may be acceptable to the Deity On this account, having heard of the extra-ordinary holiness and of the severe penances performed by Hirbujisoor and his disciples, who reside in Guzerat and are lately come from thence, we have ordered them to the presence, and they have been ennobled by having permission to kiss the abode of honour

"After having received their dismissal and leave to proceed to their own country, they made the following request —That if the King, protector of the poor, would issue orders that during the twelve days of the month Bhadon, called Putchoossur (which are held by the Jains to be particularly holy) no cattle should be slaughtered in the cities where their tribe reside, they would thereby be exalted in the eyes of the world, the lives of a number of living animals would be spared, and the actions of His Majesty would be acceptable to God,

अकबर के इस फरमान का अनुवाद भी मालकम साहब ने अपनी पुस्तक में दिया है। उसे हम ज्यों का त्यों नीचे प्रकाशित करते हैं—

"IN THE NAME OF GOD GOD IS GREAT

"Firman of the Emperor Jalalodeen Mahomed Akbar Shah, Padsha, Ghazee

"BE it known to the Moottasuddies of Malwa, that as the whole of our desires consist in the performance of good actions, and our virtuous intentions are constantly directed to one object, that of delighting and gaining the hearts of our subjects, etc

"We, on hearing mention made of persons of any religion or faith, whatever, who pass their lives in sanctity, employ their time in spiritual devotion and are alone intent on the contemplation of the Deity, shut our eyes on the external forms of their worship, and considering only the intention of their hearts, we feel a powerful inclination to admit them to our association,

from a wish to do what may be acceptable to the Deity On this account, having heard of the extra-ordinary holiness and of the severe penances performed by Hirbujisoor and his disciples, who reside in Guzerat and are lately come from thence, we have ordered them to the presence, and they have been ennobled by having permission to kiss the abode of honour

"After having received their dismissal and leave to proceed to their own country, they made the following request —That if the King, protector of the poor, would issue orders that during the twelve days of the month Bhadon, called Putchoosur (which are held by the Jains to be particularly holy) no cattle should be slaughtered in the cities where their tribe reside, they would thereby be exalted in the eyes of the world, the lives of a number of living animals would be spared, and the actions of His Majesty would be acceptable to God,

अकबर के इस फरमान का अनुवाद भी मालकम साहब ने अपनी पुस्तक में दिया है। उसे हम ज्यों का त्यों नीचे प्रकाशित करते हैं—

"IN THE NAME OF GOD GOD IS GREAT

"Firman of the Emperor Jalalodeen Mahomed Akbar Shah, Padsha, Ghazee

"BE it known to the Moottasuddies of Malwa, that as the whole of our desires consist in the performance of good actions, and our virtuous intentions are constantly directed to one object, that of delighting and gaining the hearts of our subjects, etc

"We, on hearing mention made of persons of any religion or faith, whatever, who pass their lives in sanctity, employ their time in spiritual devotion and are alone intent on the contemplation of the Deity, shut our eyes on the external forms of their worship, and considering only the intention of their hearts, we feel a powerful inclinatio[illegible] them to our association,

फ़रमान अकबर बादशाह गाजी का—

"सूबे मुलतान के बड़े बड़े हाकिम, जागीरदार, करोड़ी और सब मुत्सद्दी (कर्मचारी) जान लें कि हमारी यही मानसिक इच्छा है कि सारे मनुष्यों और जीव-जंतुओं को सुख मिले, जिससे सब लोग अमन चैन से रहकर परमात्मा की आराधना में लगे रहें। इससे पहले शुभचिंतक तपस्वी जयचंद सूरि खरतरगच्छ हमारी सेवा में रहता था। जब उसकी भगवद्भक्ति प्रकट हुई तब हमने उसको अपनी बड़ी बादशाही की मिहरबानियों में मिला लिया। उसने प्रार्थना की कि इससे पहले हीरविजय सूरि ने सेवा में उपस्थित होने का गौरव प्राप्त किया था और हर साल १२ दिन माँगे थे, जिनमें बादशाही मुल्कों में कोई जीव मारा न जाय और कोई आदमी किसी पक्षी, मछली और उनके तरह जीवों को कष्ट न दे। उसकी प्रार्थना स्वीकार हो गई थी। अब मैं भी आशा करता हूँ कि एक सप्ताह का और वैसा ही हुक्म इस शुभचिंतक के वास्ते हो जाय। इसलिए हमने अपनी आम दया से हुक्म फरमा दिया कि आषाढ़, शुक्लपक्ष की नौमी से पूर्णमासी तक साल में कोई जीव मारा न जाय और न कोई आदमी किसी जानवर को सताये। असल बात तो यह है कि जब परमात्मा ने आदमी के वास्ते [illegible] उपजाई हैं तब वह किसी [illegible] को

मक़ाम आजार जांदार , मोरे न गर्दद। व अस्ल खुद ऑनस्त कि चूँ हजरते वेचूँ अज बराए आदमी चंदीं न्यामतहाय गूनागूँ मुहय्या करदा अस्त। दर् हेच वक्त दर् आजार जानवर न शवद्। वशिकमे खुदरा गोर हैवानात न साजद्। लेकिन वजेहत् बाजे मसालह दानायान पेश तजवीज नमूदा अंद। दरींविला आचार्य जिनसिंह सूरि उर्फ मानसिंह व अरज अशरफ असकद रसानीद् कि फरमाने कि क़ब्ल अर्जी वशरह सदर अज सुदूर याफ़्ता बूद गुम शुदह। विनावरॉ मुताविक़ मजमून हमा फरमान मुजद्दद फरमान मरहमत फरमूदैम्। मे वायद् कि हस्बुल मस्तूर अमल नमूदा व तक़दीम रसानद। व अज फरमूदह तखल्लुफ व इनहिराफ न वरजंद। दरीं वाव निहायत एहतमाम व क़दगन् अजीम लाजिम दानिस्ता तग़य्युर व तवद्दुल वकवायद् ऑ राह न दिहंद। तहरीरन् फीरोज रोज सी व यकुम माह खुरदाद इलाही सन् ४९।"

(१) "व रिसालए मुकर्रबुल हजरतस्सुलतानी दौलत-खॉ दर चौकी (उमदे उमरा)।"

(२) "जुब्दतुलआयान राय मनोहर दर नोवत वाक़या-नवीसी, ख़्वाजा लालचंद।"

जोधपुरनिवासी मुंशी देवीप्रसादजी ने इसका अनुवाद हिंदी में इस तरह किया है—

फरमान अकबर बादशाह गाजी का—

"सूबे मुलतान के बड़े बड़े हाकिम, जागीरदार, करोड़ी और सब मुत्सद्दी (कर्मचारी) जान लें कि हमारी यही मानसिक इच्छा है कि सारे मनुष्यों और जीव-जंतुओं को सुख मिले, जिससे सब लोग अमन चैन से रहकर परमात्मा की आराधना में लगे रहें। इससे पहले शुभचिंतक तपस्वी जयचंद सूरि खरतरगच्छ हमारी सेवा में रहता था। जब उसकी भगवद्भक्ति प्रकट हुई तब हमने उसको अपनी बड़ी बादशाही की मिहरबानियों में मिला लिया। उसने प्रार्थना की कि इससे पहले हीरविजय सूरि ने सेवा में उपस्थित होने का गौरव प्राप्त किया था और हर साल १२ दिन मांगे थे, जिनमें बादशाही मुल्कों में कोई जीव मारा न जाय और कोई आदमी किसी पक्षी, मछली और इन जैसे जीवों को कष्ट न दे। उसकी प्रार्थना स्वीकार की गई थी। अब मैं भी आज्ञा करता हूँ कि [illegible] और वैसा ही हुक्म इस शुभचिंतक के वास्ते [illegible]। इसलिए हमने अपनी आम दया से हुक्म फरमा दिया कि [illegible], शुक्लपक्ष की नवमी से पूर्णमासी तक [illegible] में कोई जीव मारा न जाए और न कोई आदमी किसी जानवर को सताये। असल बात तो यह है कि [illegible] आदमी के [illegible] उपजाये हैं [illegible] किसी जानवर को दुःख न दे [illegible]

पशुओं का मरघट न बनावे। परंतु कुछ कारणों से अगले बुद्धिमानों ने वैसी तजवीज की है। इन दिनों आचार्य जिनसिंह उर्फ मानसिंह ने अर्ज कराई कि पहले जो ऊपर लिखे अनुसार हुक्म हुआ था वह खो गया है। इसलिए हमने उस फरमान के अनुसार नया फरमान इनायत किया है। चाहिए कि जैसा लिख दिया गया है वैसा ही इस आज्ञा का पालन किया जाय। इस विषय में बहुत बड़ी कोशिश और ताकीद समझकर इसके नियमों में उलट-फेर न होने दिया जाय। ता० ३१ खुरदाद इलाही सन् ४६।

हजरत बादशाह के पास रहनेवाले दौलतखाँ के हुक्म पहुँचाने से, उमदा अमीर और सहकारी राय मनोहर की चौकी और ख्वाजा लालचंद के वाकिया (समाचार) लिखने की बारी में लिखा गया।"

इस फरमान से स्पष्ट है कि सूरि को बारह दिन के लिए जीवहिंसा न की जाने के विषय में तो फरमान मिला ही था। उनके बाद जयचंद्र सूरि को भी एक सप्ताह के लिए फरमान मिल गया था।

अकबर ने हीरविजय को जगद्गुरु की पदवी दी। इसके बाद हीरविजय ने शांतिचंद्र-नामक पंडित को उपाध्याय बनाकर अकबर के दरबार में छोड़ दिया और १५८४ ई० में आपने फतहपुर से प्रस्थान किया। कुछ दिन वे प्रयाग में रहे और कुछ दिन फिर आगरे में। तदनंतर आप गुजरात

को लौट गये। चार महीने, मार्ग में, आप सिरोही रहे। १५८७ में वे पाटन पहुँचे।

इधर शांतिचंद्र ने अकबर की तारीफ में कृपारसकोश नाम की एक पुस्तक बनाई। उसमें उसने अकबर के औदार्य और कारुण्य-दर्शक सारे सत्कार्यों का उल्लेख किया।

इस पुस्तक को शांतिचंद्र के मुख से सुनकर अकबर को बहुत संतोष हुआ। अनन्तर, पाटन में हीरविजय का दर्शन करने के अभिप्राय से शांतिचंद्र जब फतहपुर से बिदा होने लगे तब अकबर ने अपने हिंसा प्रतिबंधक फरमान की एक कापी उनके हाथ में दी। उसमें उसने अहिंसा के समय की अवधि को और भी बढ़ा दिया और जजिया-नामक कर उठा दिये जाने का भी हुक्म दिया—

जयवता भुवि मलिननिसादधे
नृपतिदेव तनुष्कर स्वरत।

(कृपारसकोश)

सचमुच ही इस कर को उठाकर अकबर ने बहुत बड़ी [illegible]। शांतिचंद्र के चले जाने पर भानुचंद्र-नामक जैन विद्वान अकबर के दरबार में रहे। भानुचंद्र के सिद्धिचंद्र नामक एक शिष्य था। इस सिद्धिचंद्र ने बाणभट्ट की कादम्बरी की टीका लिखी है। इस टीका के अंतिम वाक्यों से भानुचंद्र तथा उनके संबंध की कुछ विशेष बातें मालूम होती हैं। टीका का अंत इस—

"इति श्रीपादशाहश्रीअकब्बरजलालुद्दीनसूर्यसहस्रनामाध्यापकश्रीशत्रुञ्जयतीर्थकरमोचनाद्यनेकसुकृतविधायकमहोपाध्यायश्रीभानुचन्द्रगणितच्छिष्याष्टोत्तरशतावधानसाधकप्रमुदितपादशाहश्रीअकब्बरप्रदत्तखुशफहमस्दाभिधान महोपाध्यायश्रीसिद्धिचन्द्रगणिविरचितायां कादम्बरीटीकायामुत्तरखण्डटीका समाप्ता।"

इससे मालूम हुआ कि सिद्धिचंद्र के शतावधान से प्रसन्न होकर अकबर ने उन्हें खुशफ़हेम की उपाधि से भूषित किया था। इससे यह भी विदित हुआ कि भानुचंद्र ने अकबर को सूर्यसहस्रनाम पढ़ाया था और शत्रुंजय तीर्थ के यात्रियों को जो कर देना पड़ता था उसे भी उन्होंने अकबर से माफ करा दिया था। परन्तु हीरविजय सूरि के परामर्श से ही भानुचंद्र ने यह काम किया था। इसके लिए उन्हें काश्मीर जाना पड़ा था। यह बात १५९३ ईसवी की है।

इसके बाद विजयसेन सूरि को भी बुलाकर अकबर ने अपने यहाँ रक्खा। अनेक धार्मिक विषयों में उनसे अकबर ने वार्तालाप किया। उस समय वहाँ एक प्रकार का धार्मिक सम्मेलन-सा था। अनेक विद्वान् राजधानी में उपस्थित थे। उनसे विजयसेन सूरि का शास्त्रार्थ हुआ। उन्होंने ३६३ विद्वान् प्रतिवादियों का पराभव किया। उनकी विद्वत्ता पर मुग्ध होकर अकबर ने उन्हें स्वामी की पदवी

दी और विजयरत ने भानुचंद्र को उपाध्याय की पदवी। इस पदवीदान का जलसा बड़ी धूमधाम से हुआ। कृपारसकोश के कर्ता का कथन है कि इस उपलक्ष्य में शेख़ अबुलफ़ज़ल ने ६०० रुपये और कितने ही घोड़े आदि दिये—

शेखो रूपकषट्शतीं व्यतिकरे तत्रास्वदानादिभिः।

सन् १५८७ ईस्वी में हीरविजय सूरि चार महीने पाटन में रहे। १५८८ में शाह सोमसिंह तेजपाल की प्रदान की हुई सुपार्श्व और अनंत की मूर्तियों की उन्होंने प्रतिष्ठा कराई। १५९० में इसी तेजपाल की प्रार्थना पर शत्रुंजय तीर्थ में सूरि महोदय ने आदीश्वर का मन्दिर खोलने की धर्मक्रिया का सम्पादन किया। इसके बाद भी चार तीर्थों में पर्यटन और निदान करके वृद्ध वय में हीरविजय सूरि ने, १५९६ ईस्वी में, शरीर छोड़ दिया। इस आदीश्वर के मन्दिर में एक बहुत बड़ा शिलालेख, संस्कृत-पद्य में, उत्कीर्ण है। उससे भी सूचित होता है कि अकबर के दरबार में हीरविजय सूरि का बड़ा मान था। उस विषय में इस शिलालेख में लिखा है—

इतो [illegible] हीरविजयसूरिराजो गुरुः
[illegible] धर्माभिज्ञेन [illegible]।
[illegible]
[illegible], [illegible]

विजयसेन के विषय में है—

ये च श्रीमदकब्बरेण विनयादाकारितः सादरं
श्रीमल्लाभपुरं पुरन्दरपुरं व्यक्तं सुपर्वोत्करैः।
भूयोभिर्व्रतिभिर्वृधैः परिवृता वेगादलंचक्रिरे
सामोदं सरसं सरोरुहवनं लीलामराला इव॥

अस्तु। पुराने जैन पंडितों की बदौलत संस्कृत भाषा के साहित्य की बहुत वृद्धि हुई और इस देश में पशुहिंसा की कमी भी बहुत कुछ हुई। अतएव इस विषय में वे सर्वथा अभिनंदनीय हैं।

ऊपर, एक जगह, विजयप्रशस्ति-नामक महाकाव्य का उल्लेख हुआ है। उसमें २१ सर्ग हैं। हीरसौभाग्य की तरह उसमें भी हीरविजय सूरि का चरित है। साथ ही, अंत के कुछ सर्गों में, विजयसेन सूरि और विजयदेव सूरि का भी वर्णन है। इसके कर्ता का नाम हेमविजय गणि है। परंतु समग्र काव्य इनका लिखा हुआ नहीं। सोलह सर्ग लिख चुकने पर इनकी मृत्यु हो गई। अतएव अवशिष्ट पाँच सर्ग इनके गुरुभाई गुणविजय गणि ने बनाकर काव्य-पूर्ति की। गुणविजय ने इसकी एक टीका भी, विक्रम-संवत् १६८८ में, बनाई। यह सटीक-काव्य बनारस की जैन-यशोविजय पाठशाला के अधिकारियों ने छपाकर प्रकाशित किया है। संपादन बड़ी योग्यता से हुआ है। पंडित हरगोविंद बेचरदास ने इसका संशोधन किया है। कोई सात सौ पृष्ठों

की जिल्द बँधी हुई पुस्तक है और पाँच रुपये में मिलती है। इसके नवें सर्ग में हीरविजय सूरि और अकबर के समागम का वर्णन है। उसमें भी प्राय वही बातें हैं जिनका उल्लेख इस लेख में, ऊपर, किया जा चुका है। इतिहास-दृष्टि से यह काव्य बड़े महत्त्व का है। रचना इसकी प्राय: सरस और अर्थगाम्भीर्य-पूर्ण है।

जून १९१२



आचार्य दिङ्नाग

महामहोपाध्याय डॉक्टर सतीशचंद्र विद्याभूषण, एम्० ए०, पी० एच् डी०, का लिखा हुआ—बौद्धन्याय-नामक एक लेख बंगीय साहित्य परिषत्पत्रिका में प्रकाशित हुआ है। उसमें अनेक बौद्ध विद्वानों और उनके न्याय ग्रंथों का उल्लेख है। आचार्य दिङ्नाग का भी संक्षिप्त वृत्तांत उसमें है। वह विशेष मनोरंजक है और महत्त्वपूर्ण भी है। अतएव उसका आशय नीचे लिखा जाता है—

दिङ्नाग का जीवनचरित

दिङ्नाग असाधारण नैयायिक थे। दक्षिण में कांची-नगरी के पास सिंहवक्र-नामक गाँव में उनका जन्म हुआ। वे जन्म से ब्राह्मण थे। बौद्ध धर्म में दीक्षित होकर नागदत्त-नामक बौद्ध गुरु के वे शिष्य हुए। नागदत्त वात्सी-पुत्रीय-नामक हीनयान संप्रदाय के अंतर्गत थे। इस संप्रदाय के धर्म-ग्रंथ त्रिपिटक का अच्छी तरह अध्ययन करके दिङ्नाग ने महायान-संप्रदाय में प्रवेश करने की चेष्टा की। अतएव आचार्य वसुबंधु के वे शिष्य हुए। उनसे महायान संप्रदाय के सारे बौद्ध ग्रंथ उन्होंने पढ़े। महायान विद्या की अधिष्ठात्री देवी का नाम मंजुश्री है।

सुनते हैं, दिङ्नाग की भक्ति से प्रसन्न होकर वह स्वर्ग से मृत्यु लोक में आई और दिङ्नाग के सामने उपस्थित हुई। उनकी कृपा से दिङ्नाग सारे शास्त्रों के असाधारण ज्ञाता हो गये। एक बार वे नालन्द के विश्वविद्यालय के अधिकारियों के द्वारा बुलाये गये। वहाँ उन अधिकारियों की प्रेरणा से उन्होंने सुदुर्जय-नामक ब्राह्मण दार्शनिक को परास्त करके बौद्ध धर्म की विजय-पताका उड़ाई। उन्होंने और भी अनेक ब्राह्मण-तार्किकों को हराकर अपनी कीर्ति-कौमुदी से लोक समाज को धवलित किया। इस उपलक्ष्य में उन्हें तर्क-पुङ्गव की पदवी मिली। उड़ीसा और महाराष्ट्र-देशों में परिभ्रमण करके दिङ्नाग ने अनेक तीर्थकरों के मत का खण्डन किया। महाराष्ट्र-देश के जिस विहार में वे रहते थे उसका नाम था आचार्य-विहार। उड़ीसा प्रान्त में उन्होंने भद्रपालित नाम के राजमंत्री को बौद्ध धर्म में दीक्षित किया। विद्या और बुद्धिमत्ता में दिङ्नाग सर्व-प्रधान थे। वे शील पारमिता, क्षान्ति पारमिता, वीर्य पारमिता, ध्यान पारमिता आदि बारह पारमिताओं, अर्थात् बौद्धशास्त्रोक्त उत्कृष्ट बारह धर्मों, का अनुष्ठान करते थे। नालन्द के विश्वविद्यालय में निवास करते समय दिङ्नाग ने सारे दार्शनिक विद्वानों को परास्त करके एक अपूर्व शिरोभूषण प्राप्त किया। उसका नाम था [illegible]। [illegible] के एक निर्जन विहार में उनकी मृत्यु हुई।

भारत के कितने ही स्थानों में दिङ्नाग को भ्रमण करना पड़ा था। सभी कहीं वे तर्क-युद्ध में प्रवृत्त हुए थे। जिस निर्दयता से वे अपने प्रतिपक्षी पर आक्रमण करते थे, प्रतिपक्षी भी उसी निर्दयता से उन पर आक्रमण करता था। उनका जीवन इसी घात-प्रतिघात—इन्हीं लड़ाई-झगड़े—में बीता। जिस मल्ल-युद्ध में वे प्रवृत्त हुए थे उसका अवसान उनके मरने पर भी न हुआ। जो ग्रंथ वे लिख गये हैं, उत्तर-काल में, अनेक पंडितों को उन सभी ग्रंथों के मत के खंडन के लिए कमर कसनी पड़ी। मेघदूत-काव्य में दिङ्नाग का "स्थूलहस्त" परिहार करने के लिए महाकवि कालिदास को मेघ को सावधान करना पड़ा।

ब्राह्मण वंशीय नैयायिक उद्योतकर ने अपने न्याय-वार्तिक-ग्रंथ के आरंभ में दिङ्नाग को "कुतार्किक" की पदवी से विभूषित किया। सर्वदर्शनस्वतंत्र वाचस्पति मिश्र ने दिङ्नाग को "भ्रांत मर्दन" कहकर उनकी भ्रांति के निराकरण की चेष्टा की। मल्लिनाथ ने दिङ्नाग को "अद्रिकल्प" विशेषण से विभूषित किया। कुमारिलभट्ट और पार्थसारथि मिश्र ने दिङ्नाग पर अबाध बाण-वर्षा की। सुरेश्वराचार्य आदि वेदांतवेत्ताओं और प्रभाचन्द्र, विद्यानन्द आदि जैन दार्शनिकों ने दिङ्नाग का मत लुप्त करने के लिए बहुत प्रयास किया। यहाँ तक कि पीछे-पीछे किसी-किसी बौद्ध नैयायिक को भी दिङ्नाग के ग्रंथों के किसी-किसी मत के

खण्डन का प्रयत्न करना पड़ा। दिङ्नाग सचमुच ही वीर पुरुष थे। उनमें असामान्य मनोबल और दैहिक तेज था। यदि ऐसा न होता तो अनेक दिशाओं से किये गये इतने आघात सहन करके वे इतने समय तक कभी जीते न रहते। दिङ्नाग के ग्रंथ भारत से लुप्त हो चुके हैं। नेपाल में भी वे रक्षित नहीं, किंतु पृथ्वी से एकदम ही लुप्तप्राय नहीं हुए। तिब्बत में दिङ्नाग के ग्रंथ यत्न पूर्वक सुरक्षित हैं।

दिङ्नाग का आविर्भाव-काल

अनुमान यह है कि ५०० ईस्वी में दिङ्नाग जीवित थे। उनके गुरु आचार्य वसुबंधु ४८० ईस्वी में विद्यमान थे। दिङ्नाग के ग्रंथों का अनुवाद, ५५७-५६९ ईस्वी में, चीनी भाषा में हुआ। जिस समय आंध्र-देश में दिङ्नाग का प्रादुर्भाव हुआ, जान पड़ता है उसी समय दक्षिण में पल्लववंशीय नरेशों का आधिपत्य था। पल्लववंशीय नरेशों में से अधिकांश नरेश बौद्ध धर्म के अनुगामी थे।

दिङ्नाग का प्रमाण समुच्चय

दिङ्नाग का सर्व प्रधान ग्रंथ प्रमाण-समुच्चय है। किसी समय आंध्र देश की वेंगी नगरी के पास एक निर्जन पर्वत के ऊपर वे रहते थे। उसी समय उन्होंने इस ग्रंथ की रचना की थी। प्रमाण के संबंध में दिङ्नाग ने, समय समय पर, जिन श्लोकों की रचना की थी उन्हीं सब श्लोकों का संग्रह एक जगह करके उन्होंने उसका नाम प्रमाण समुच्चय रक्खा।

ईश्वरकृष्ण के साथ दिङ्नाग का विरोध

सुनते हैं, जिस समय दिङ्नाग ने प्रमाण-समुच्चय का पहला श्लोक बनाया उस समय भीषण भूकंप हुआ। आन्ध्र-देश प्रकाश-पुंज से चारों तरफ़ समुज्ज्वल हो उठा और सब कहीं कोलाहल मच गया। इसके अनंतर एक दिन ईश्वरकृष्ण-नामक एक ब्राह्मण दार्शनिक दिङ्नाग के शैल-विहार में आया। उस समय दिङ्नाग विहार में न थे। दिङ्नाग-लिखित प्रमाण-समुच्चय का पहला श्लोक जो ईश्वरकृष्ण की दृष्टि में पड़ा तो वे उसे फाड़कर चलते बने। दिङ्नाग ने आश्रम में लौटकर देखा तो श्लोक नदारद। अतएव उन्होंने उसे फिर लिखा। ईश्वरकृष्ण ने दुबारा आकर उस श्लोक को फिर नष्ट कर दिया। तीसरी दफ़े दिङ्नाग ने फिर भी उसे लिपिबद्ध किया। इस दफ़े उपद्रव-कारी को सावधान करने के लिए, श्लोक के नीचे, उन्होंने इस आशय का एक लेख लिख दिया—"हम नम्रता पूर्वक निवेदन करते हैं, कोई इस श्लोक को, खेल के बहाने भी, नष्ट न करे। अर्थगांभीर्य में यह श्लोक अतुलनीय है। इस श्लोक के भाव-संबंध में यदि कोई हमारे साथ विवाद करना चाहे तो वह हमारे सामने उपस्थित हो। हमारी अनुपस्थिति में उसे कापुरुषता न करनी चाहिए।"

दिङ्नाग बौद्ध भिक्षु थे। नियमानुसार भिक्षा के लिए उन्हें रोज़ बाहर नगर में जाना पड़ता था। ऐसे ही समय

में ईश्वरकृष्ण फिर भी उनके विहार में आये। उन्होंने इस श्लोक के नीचे दिङ्नाग की प्रार्थना पढ़ी। पढ़ने से उनके हृदय में साधु भाव का संचार हो आया। वे चुपचाप वहीं खड़े रहे। विहार को लौटने पर दिङ्नाग उनके साथ तर्क-युद्ध में प्रवृत्त हो गये। शर्त यह हुई कि जो परास्त हो वह विजेता का धर्म ग्रहण करे। ईश्वरकृष्ण परास्त हो गये, पर उन्होंने दिङ्नाग का धर्म न स्वीकार किया। दिङ्नाग ने अब उन्हें शर्त की याद दिलाई तब क्रोधावेश पूर्वक ईश्वर कृष्ण ने दिङ्नाग के विहार में आग लगा दी। वह जलकर भस्म हो गया। दिङ्नाग के पास पोथी-पत्रा जो कुछ था सब जल गया। दिङ्नाग बहुत खिन्न हुए। उन्होंने सोचा—"हम एक मनुष्य को सत्पथ में न ला सके। फिर समस्त और लोगों के लिए मुक्ति प्राप्ति का उपाय हम क्या बता सकेंगे!" उन्होंने अपने [illegible] विज्ञान और प्रमाण-समुच्चय ग्रंथ लिखने का विचार छोड़ दिया। इसी समय बोधिसत्व मंजुश्री उनके सामने आकर उपस्थित हुए और बोले—

"वत्स, शान्त हो। जिस ग्रन्थ का लिखना तुमने आरम्भ किया है उसे कोई नष्ट न कर सकेगा। हम तुम्हारे शिक्षा-गुरु हैं। संसार के सारे [illegible] तुम्हारा [illegible] न कर सकेंगे। तुम जिस ग्रन्थ की रचना कर रहे हो वह समस्त शास्त्रों का [illegible] है। यह [illegible] मनुष्यों को मुक्ति का पथ दिखलायेगा।"

यह कहकर मंजुश्री अंतर्द्धान हो गये। उस अवसर पर दिङ्मंडल बड़े ही समुज्ज्वल प्रभापुंज से प्रकाशित हो गया। आंध्र-देश का राजा दिङ्नाग के पास आया और उसने अनुरोध किया कि आप हेतु-विद्या-शास्त्र की अवश्य रचना करके उसे समाप्त कीजिए। तब दिङ्नाग ने प्रमाण-समुच्चय-नामक ग्रंथ लिखना आरंभ कर दिया।

प्रमाण समुच्चय का प्रतिपाद्य विषय

प्रमाण-समुच्चय का छंद अनुष्टुप् है। हेमवर्मा नाम का एक भारतीय बौद्ध पंडित था। उसी ने दे-प-शे-रब नामक तिब्बतीय राज-लामा के साथ प्रमाण-समुच्चय का अनुवाद तिब्बतीय भाषा में किया। तिब्बत के शे-पइ-गे-ने नामक विहार में यह अनुवाद-कार्य समाप्त हुआ। तिब्बतीय भाषा में इस ग्रंथ का नाम है—"छे-म-कुत इ"। ग्रंथ के आरंभ में दिङ्नाग ने लिखा है—

"जो जगत् का हितसाधक और प्रमाण का अवतार-रूप है उसी सर्वशरण्य महागुरु सुगत के चरणों में सिर रखकर, इधर-उधर बिखरे हुए प्रमाण-विषयक वचनसमूहों का एकत्र संग्रह करके, मैं इस ग्रंथ की रचना करता हूँ।"

ग्रंथांत में दिङ्नाग ने लिखा है—

"सर्वदेशीय तार्किकों का पराभव करनेवाले और हाथी के सदृश बलसंपन्न दिङ्नाग ने, अपने ही रचे हुए श्लोकों का संग्रह करके, इस ग्रंथ का प्रकाशन किया।"

प्रमाण-समुच्चय ६ परिच्छेदों में विभक्त है—(१) प्रत्यक्ष, (२) स्वार्थानुमान, (३) परार्थानुमान, (४) त्रिरूप हेतु, (५) प्रत्यक्ष उपमान और शब्द-प्रमाण, (६) जात्युत्तर विचार।

इसके आगे विद्याभूषण महाशय ने प्रमाण-समुच्चय में लिखी गई बातों का विवेचन विस्तार के साथ किया है। उस विवेचन को हम छोड़ देते हैं, क्योंकि पाठकों में से बहुत कम को यह रुचिकर होगा।

लेखारम्भ में डॉक्टर विद्याभूषण ने कालिदास की उस उक्ति का उल्लेख किया है जिसमें दिङ्नाग के "स्थूलहस्त" की बात है। यह उक्ति मेघदूत के चौदहवें श्लोक के चौथे चरण में है। यथा—

"दिङ्नागानां पथि परिहरन् स्थूलहस्तावलेपान्"

जिस पर्वत पर यक्ष था उससे रवाना होने की प्रार्थना मेघ से करने पर कहता है कि जब तू इस पर्वत के ऊपर से उड़ता हुआ आगे बढ़ेगा तब सिद्धों की स्त्रियों के मन में यह भ्रम उत्पन्न होगा कि कहीं पर्वत के किसी टुकड़े को हवा तो नहीं उड़ाये लिये जा रही। इसी के आगे पद्य में कहा है कि जब तू पहाड़-सा काला-काला आकाश में उड़ता दिखाई देगा तब तुझे देखकर दिग्गजों का गर्व चूर हो जायगा। वे अपने को बड़ा विशालकाय समझते हैं। परंतु जब वे तुझे अपने से भी बड़ा देखेंगे तब उनको

अपने भ्रम का ज्ञान हो जायगा। इससे सिद्ध है कि कालिदास की उक्ति का प्रकृत संबंध दिग्गजों से ही है। दिङ्नाग नाम आ जाने से श्लेष-शक्ति से यदि उन्होंने आचार्य दिङ्नाग पर कटाक्ष किया हो तो यह भी असंभव नहीं। दिङ्नाग अवश्य ही बड़े उद्धत और अतुल अवलेप-पूर्ण थे। यदि किसी प्रकार यह बात सप्रमाण सिद्ध हो जाय कि मेघदूत का पूर्वोक्त पद अवश्य ही श्लिष्ट पद है तो कालिदास के समय-संबंध में भी यह निश्चय हो जाय कि वे ५०० ईसवी के ही आसपास विद्यमान थे, ईसा के ५६ वर्ष पहले, विक्रमादित्य की सभा में, न थे।

अगस्त १९१५